सत्साहित्य-प्रकाशन

बोधि-वृक्ष की छाया में

(बुद्ध और बौद्ध धर्म-संबंधी निबंध)

भरतसिंह उपाध्याय

●

१९६२

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

'मण्डल' से अब तक बुद्ध और बौद्ध धर्म-सबधी कई पुस्तकें निकल चुकी है—गौतम बुद्ध, बुद्ध-वाणा, बुद्ध और बौद्ध साधक, थेरी-गाथाए, जताक-कथा, आदि। ये सभी पुस्तकें पाठको को बहुत रुचिकर हुई है। गौतम बुद्धपर तो केन्द्रीय शिक्षा-मत्रालय द्वारा पाँच सौ रुपये का पुरस्कार दिया गया था। कहने की आवश्यकता नही कि इन सब पुस्तको में बड़ी स्वस्थ सामग्री है। उसका जितना अध्ययन और मनन किया जाय, उतना ही लाभदायक होता है।

हमें हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा उस श्रृंखला मे एक नई कड़ी जुड़ रही है। इस पुस्तक के लेखक ने बुद्ध और बौद्ध धर्म का बड़ी गहराई से अनुशीलन किया है। इस रचना में अपने उसी अध्ययन का लाभ उन्होंने पाठको को दिया है। भगवान् बुद्ध के जीवन के मानवीय पहलू पर जहां प्रकाश डाला है, वहां बौद्ध धर्म के विभिन्न अगो पर भी विचार किया है। बौद्ध धर्म के व्यापक प्रभाव तथा प्रचार से सबधित कुछ और भी सामग्री इसमें दी है।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तक के अध्ययन से सभी पाठको को लाभ होगा। जिनमें आध्यात्मिक भूख है, उनको तो यह पुस्तक बहुत ही मूल्यवान सिद्ध होगी।

—मंत्री

दो शब्द

बुद्ध और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित मेरे कुछ चुने हुए निबन्ध इस पुस्तक मे सगृहीत है। वैसे तो बुद्ध-शासन में सभी कुछ मानवीय है, सभी कुछ साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, फिर भी ऐसा प्रयत्न किया गया है कि उसके इस पक्ष पर जिनसे अधिक प्रकाश पड़े, ऐसे ही लेखो का सग्रह इसमे किया जाय। साधना के पक्ष का भी ध्यान रक्खा गया है।

मनुष्य का सबसे महान् पर्येषण क्या है, इस पर विचार करते हुए महामति सुकरात ने एक जगह कहा है कि यह इस बात का अनुशीलन करना है कि मनुष्य क्या बने और जीवन मे क्या करे ? यदि यह कहना ठीक है, तो इस प्रकार के पर्येषण के लिए बुद्ध के जीवन और ज्ञान से अधिक प्रेरणा और कहा मिल सकती है ? उस 'किं-कुशल-गवेषी' पुरुष ने जीवन मे जो खोज की, वही एकमात्र सच्ची खोज है और जिसे उसने बोधि के रूप मे पाया, उससे अधिक महान् वस्तु मानवीय जिज्ञासा अध्यात्म के क्षेत्र में अभी कुछ पा नही सकी है। मनुष्य का सम्पूर्ण आध्यात्मिक पुरुषार्थ जैसे बुद्ध के जीवन मे पुंजीभूत हो गया है। यही कारण है कि उसपर आधारित साहित्य जीवन की खोज करनेवालो के लिए सदा एक निरन्तर सेवनीय और गवेषणीय गोचर-भूमि बन गया है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसके समान बोधमय भावो पर निर्भर और मनुष्य के नैतिक उत्कर्ष को करनेवाली कोई दूसरी अभिव्यक्ति विश्व मे दिखाई नही पडती।

परन्तु इन पृष्ठो मे इस अभिव्यक्ति की कोई गहरी छानबीन नहीं की गई है। यहा केवल कुछ स्फुट निबन्ध है, जिन्हे समय-समय पर लेखक ने अपने मानसिक परितोष के लिए लिखा है। आशा है, इनसे बुद्ध-ज्ञान के कुछ विशिष्ट पक्षो, देनो और परिणतियो को समझने मे सौम्य पाठको को सहायता मिलेगी और उन्हे कुछ-न-कुछ स्पर्श उस अवस्था का भी होगा, जिसके सम्बन्ध मे एक बौद्ध ग्रन्थ (बुद्धवश) मे कहा गया है—

" 'बुद्ध','बुद्ध' कहते हुए मैंने सौमनस्य का अनुभव किया।

" 'बुद्ध','बुद्ध' चिन्तन करते हुए उस समय मैं मार्ग का शोधन करता था।"

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन के महत्त्व को मै इसी पर्यन्त नाप सका हू।

—भरतसिंह उपाध्याय

विषय-सूची

बोधि-वृक्ष की छाया में

: १ :

बुद्ध क्या हैं?

बुद्ध को यद्यपि एक उत्तर काल मे 'अति-मानव' का रूप दे दिया गया और उनके व्यक्तित्व के चारो ओर चमत्कारपूर्ण अतिमानुषी कथाए गढ दी गई, परन्तु अपने जीवन मे बुद्ध पूर्ण मानव थे। एक मानव की तरह ही वह एक छोटे-से गणराज्य के राजा के यहा पैदा हुए, मानव की तरह ही उन्हे जिज्ञासाए और शकाए हुई, जिनका उन्होने समाधान भी मनुष्य की तरह ही किया और फिर जीवन के सत्यो का ज्ञान प्राप्त करने के बाद अपने जीवन के शेष ४५ वर्ष उन्होने एक मनुष्य की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते हुए और लोगो को अपने विचार समझाते हुए व्यतीत किये। अन्त मे उनकी मृत्यु भी एक मनुष्य की तरह ही रोग से और "आनन्द ! मै प्यासा हू, पानी पीऊगा" की पूरी मानवीय भूमिका के साथ, किन्तु गम्भीर, अपराजित शान्ति की अवस्था मे, हुई। अपने जीवन की सभी क्रियाओ मे बुद्ध मानव थे। उनका जीवन आदि से लेकर अन्त तक एक मानव का जीवन ही है।

परन्तु बुद्ध असामान्य मानव थे। जैसे मानव इस धरती पर चलते-फिरते, साधारण काम-काज करते और अपने बाल-बच्चो को पालते-पोसते दिखाई पडते है, वैसे बुद्ध नही थे। हम उन्हे देवता तो नही कह सकते, क्योकि देवताओ मे राग-द्वेष, सुख-विलास होता है, जिनसे बुद्ध विमुक्त थे और ऊपर उठे हुए थे। सम्पूर्ण मानवीय दुर्बलताओ और असगतियो (जिनसे मानव अनिवार्यत युक्त रहता है) से अतीत होने

के कारण बुद्ध पूरी तरह 'मनुष्य' भी नही कहे जा सकते। हम उन्हे केवल 'बुद्ध' ही कह सकते है, प्रबुद्ध मानव, आश्चर्यमय पुरुष!

परन्तु यहा भी एक भय है। हम बुद्ध को अक्सर मूर्तियो मे पालथी मारकर ध्यान करनेवाले एक योगी के रूप मे देखते है। यह ठीक भी है। बुद्ध ऐसे ही ध्यान करते थे और उनके मुख-मण्डल पर सबको अपनी ओर खीचनेवाली जो शान्ति विराजती थी, उसीकी बहुत अधूरी अभिव्यक्ति शिल्पियो ने उनकी पाषाण-मूर्तियो में की है। परन्तु यह समझना गलत होगा कि इस औपचारिक आसन मे ही बुद्ध सदा रहते थे, या कि एक योगी, महायोगी, के रूप मे मानवीय भावनाओ का स्वच्छ और निर्मल प्रवाह उनके हृदय के अन्दर नही बहता था। इसके विपरीत, बहुतो को यह आश्चर्यजनक लगेगा कि बुद्ध सगीत की प्रशंसा भी कर सकते थे और अपने एक श्रमण-कवि शिष्य के काव्यात्मक उद्गारो को भी सुन सकते थे। दु खग्रस्त प्राणियो के लिए उनके हृदय मे जो करुणा की विमल धारा बहती थी, उसके बारे में तो कुछ कहना ही नही, बुद्ध प्राकृतिक दृश्यो की रमणीयता का अनुभव करते थे और पूर्ण ज्ञानी होते हुए भी उन्हे अपने एक शिष्य के वियोग मे चारो दिशाए शून्य-सी जान पडने लगी थी। जिसने दु ख को जीवन के प्रथम सत्य के रूप मे देखा था, उसकी सवेदनशीलता की सीमा नही आकी जा सकती। परन्तु इसके साथ ही बुद्ध अपने हृदय की सब ग्रन्थियो को तोड चुके थे। वह शोक-परिदेव से परे थे, हर्ष-उल्लास उन्हे नही हो सकता था। दु खमय या सुखमय अनुभूतियो को अनुभव करना उनके लिए शेष नही रह गया था। ऐसे हृदयवान् और हृदयहीन मानव थे बुद्ध!

बुद्ध वास्तव मे क्या थे, इसकी कुजी हमे उनके एक शिष्य के कतिपय शब्दो मे मिलती है,जो उन्होने अनायास अपने एक वार्तालाप के प्रसग मे कहे। महाकात्यायन बुद्ध के एक प्रसिद्ध शिष्य थे। उज्जयिनी मे जन्म लेकर उन्होने अपने प्रदेश अवन्ती (मालवा) मे तो बुद्ध-शासन का प्रचार किया ही, हम उन्हे राजगृह, सोरो, श्रावस्ती और मथुरा तक धर्म-प्रचारार्थ जाते देखते है। एक बार वह वरणा (बुलन्दशहर) भी आये थे और वहा एक सरोवर के पास, जो उस

समय कर्दम ह्रद (कद्दम दह) कहलाता था, ठहरे थे । यहां एक ब्राह्मण, जिसका नाम आरामदण्ड था, उनसे मिलने आया और इस ब्राह्मण ने एक बडा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनसे पूछा—ऐसा प्रश्न, जो सब युगो की सस्कृतियो के लिए शाश्वत काल से एक आधारभूत समस्या बना हुआ है। उसने पूछा कि समाज मे पारस्परिक कलह और ईर्ष्या-द्वेष क्यो है ? क्यो ब्राह्मण ब्राह्मण से लडता है, क्षत्रिय क्षत्रिय से, वैश्य वैश्य से, राजा राजा से, पति पत्नी से, पत्नी पति से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहन भाई से ? मनुष्य-मनुष्य के बीच यह चिर कलह क्यो व्याप्त है ? महाकात्यायन ने उसे उत्तर देते हुए बताया कि यह ऐन्द्रिय वासनाओ की दासता और उनके बन्धनो के कारण है। इससे ही समाज मे सर्वत्र कलह, पारस्परिक सघर्ष और असन्तोष व्याप्त है। आरामदण्ड ने इसपर दूसरा प्रश्न उनसे यह पूछा कि क्या फिर इस ससार मे कोई ऐसा व्यक्ति भी है, जो ऐन्द्रिय वासनाओ की दासता और उनके बन्धनो से परे चला गया हो। इसका उत्तर 'हा' मे देते हुए महाकात्यायन ने उसे बताया कि शाक्य-कुल से प्रव्रजित भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध ऐसे ही एक पुरुष है । आगे उन्होने उसे यह भी बता दिया कि वह भगवान् इस समय श्रावस्ती मे निवास कर रहे है । आगे कथा चलती है कि आरामदण्ड रोमाचित होकर वहा उनसे मिलने गया और उसने बुद्ध को वैसा ही पाया जैसा महाकात्यायन ने उसे बताया था—एक ऐसा पुरुष, जो सम्पूर्ण ऐन्द्रिय वासनाओ की दासता और उनके बन्धनो से अतीत हो गया है। सम्पूर्ण बौद्ध शास्त्रो को पढने के बाद बुद्ध के व्यक्तित्त्व के सम्बन्ध मे मन पर यही छाप पडती है। उनके जीवन की छोटी-से-छोटी घटना और सम्पूर्ण चर्या इस तथ्य को उद्घाटित करती है कि वह सचमुच एक ऐसे पुरुष थे, जो सम्पूर्ण ऐन्द्रिय वासनाओ की दासता और उनके बन्धनो से अतीत हो गये थे, उनसे परे चले गये थे। बुद्ध का सही रूप यही है।

: २ :

भगवान् बुद्ध की 'आत्मकथा'

भगवान् बुद्ध ने 'आत्मकथा' जैसी कोई वस्तु नही लिखी है। वस्तुत लिखित रूप मे उन्होने हमारे लिए कुछ नही छोडा है। भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। उनके परिनिर्वाण के बाद उनका सकलन और सम्पादन किया गया। पालि त्रिपिटक के रूप मे उनका यह सकलित और सम्पादित रूप आज हमे प्राप्त है। बुद्ध की जीवनी और उपदेशो को जानने का सबसे अधिक प्रामाणिक साधन पालि त्रिपिटक ही है।

बुद्ध-उपदेशो की एक बडी विशेषता यह है कि वे भगवान् बुद्ध के अपने अनुभव पर आधारित है। उन्होने जोर देकर कहा है, "मै यह किसी श्रमण या ब्राह्मण से सुनकर नही कहता, बल्कि मैने जो स्वय देखा है, स्वय जाना है, स्वय अनुभव किया है, उसे ही कहता हू।" इस प्रकार बुद्ध-वचनो मे हमे बुद्ध के आन्तरिक जीवन की पूरी कथा मिल जाती है,जिसका प्रभाव और ऐतिहासिक महत्त्व उनकी सवादात्मक शैली के कारण अधिक बढ गया है। यहा हम बुद्ध-जीवन-सम्बन्धी उस सूचना को सकलित करने का प्रयत्न करेंगे, जो स्वय बुद्ध-मुख से हमे प्राप्त हुई है।

"हिमालय (हिमवन्त) की तराई मे एक जनपद है। वहा कोशल-देशवासी एक ऋजुस्वभाव राजा है, जो धन और पराक्रम से युक्त है। वह सूर्यवशी है और शाक्य जाति के है। मै उनके कुल से प्रव्रजित हुआ हू। मै विषयो की कामना नही करता। विषयो के दुष्परिणाम को देखकर मैने वैराग्य को क्षेम समझा है। मै मुक्ति की गवेषणा मे जारहा हू। मेरा मन इसीमे रमता है।"[1]

---

१ पब्बज्जा-सुत्त (सुत्त-निपात)। अपने जीवन और उद्देश्य का यह परिचय सिद्धार्थ ने

"मेरे नगर का नाम कपिलवस्तु है। मेरे पिता शुद्धोदन है। मेरी माता, जिन्होने मुझे जन्म दिया, माया देवी कहलाती है। उन्तीस वर्ष तक मैने घर में वास किया। मेरे तीन उत्तम प्रासाद थे, जिनके नाम थे राम, सुराम और सुभृत। भद्दकच्चा[1] (भद्रकृत्या) नाम की मेरी नारी थी और राहुल पुत्र।"[2]

"फिर भिक्षुओ! कुछ समय बाद जबकि मै सुन्दर यौवन से युक्त था, यौवन की पूर्ण अवस्था मे स्थित था और मेरे केश काले थे, मै अपने अश्रुमुख पिता और माता को छोडकर, उनकी इच्छा के विपरीत, अपने केश और दाढी को मुडवाकर, काषाय वस्त्र पहनकर, गृह से गृहविहीन अवस्था मे जाकर प्रव्रजित हो गया।"[3]

"चार निमित्तों[4] को देखकर मै घोडे पर चढकर (कपिलवस्तु से) बाहर निकल गया। छह वर्ष तक मैने सत्य-प्राप्ति के लिए कड़ी तपस्या की।"[5]

"भिक्षुओ! बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व, जब कि मै बोधिसत्व ही था और सम्यक् ज्ञान के लिए प्रयत्न कर रहा था, (मैने देखा कि) मै स्वय जन्म, जरा, रोग, मृत्यु और दु ख से पीडित हू और गवेषणा भी मै ऐसे ही पदार्थो (पुत्र, भार्या, दास-दासी, सोना-चादी) की कर रहा हू, जिनका स्वभाव जन्म, जरा, रोग, मृत्यु और दु ख है। तब भिक्षुओ! मुझे विचार हुआ—क्यो मै, जो कि जन्म, जरा, रोग, मृत्यु और दु ख से पीड़ित

राजा बिम्बिसार को उस समय दिया जब वह गृह त्याग कर मुक्ति की गवेषणा में जा रहे थे और बिम्बिसार ने उन्हें सम्पत्ति का प्रलोभन देकर रोकने का प्रयत्न किया था।

१ पालि साहित्य में अन्य प्रयुक्त नाम हैं भद्दा कच्चाना (भद्रा कात्यायनी), बिम्बा और राहुल-माता। बौद्ध सस्कृत-साहित्य में इनको गोपा और यशोधरा या यशोवती नाम से पुकारा गया है।

२ बुद्धवस, पृष्ठ ७२ (उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित सस्करण)

३. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।६)

४ वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित, इन चार चिन्हों को देखकर सिद्धार्थ प्रव्रजित हुए थे।

५ बुद्धवस, पृष्ठ ७२।

हू, ऐसी ही वस्तुओ के पीछे दौड रहा हू, जो पुन इन्ही बातो को पैदा करेंगी ? क्यो न मै इनके दुष्परिणामो को देखकर उस वस्तु की खोज करू, जहा न जन्म है, न जरा है, न रोग है, न मृत्यु है और न दुःख, बल्कि जो अनुपम योगक्षेम-स्वरूप और क्लेशरहित स्थान है ?"[1]

"भिक्षुओ ! बुद्धत्व-प्राप्ति मे पूर्व, जबकि मै बोधिसत्व ही था और सम्यक् ज्ञान के लिए प्रयत्न कर रहा था, मुझे यह विचार आया करता था—अहो ! यह लोक दु ख मे पडा हुआ है। यहा जन्म लेना और मरना है। एक अवस्था से च्युत होकर दूसरी मे उत्पन्न होना है। यहा जरा और मृत्यु है। इस दु ख से विमुक्ति जानी नही जाती। हाय ! क्या इससे नि सरण का भी कोई मार्ग होगा ?"[2]

"उत्तम शान्ति-पद की खोज करते हुए मै आलार कालाम के पास पहुचा। मैने आलार कालाम से कहा—'आयुष्मन् कालाम ! मै तुम्हारे धर्म-विनय मे ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हू।' ऐसा कहने पर आलार कालाम ने मुझसे कहा—'आयुष्मन् ! तुम मेरे साथ रह सकते हो। यह धर्म-विनय ऐसा है कि जहा बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही अपने अन्तर्ज्ञान मे अपने आचार्य के ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।' भिक्षुओ ! थोडे ही समय मे मैने आलार कालाम के ज्ञान को सीख लिया और फिर उनसे पूछा—'आयुष्मन् कालाम ! जिस ज्ञान को प्राप्त कर तुम अपने जीवन मे अभ्यास करते हो उसकी पहुच कहातक है ?' आलार कालाम ने उत्तर दिया, 'आकिंचन्यायतन तक।' तब भिक्षुओ ! मुझे यह विचार हुआ—आलार कालाम के पास ही श्रद्धा, वीर्य, समाधि और प्रज्ञा नहीं है, मेरे पास भी है। मै भी इस धर्म को स्वय जानकर, स्वय साक्षात्कार कर, जीवन मे अभ्यास करूगा। भिक्षुओ ! मै शीघ्र ही इस धर्म को साक्षात्कार कर विहरने लगा। तब भिक्षुओ ! मैने आलार कालाम से जाकर कहा, 'आयुष्मन् ! मै इस धर्म को स्वय जानकर, स्वय साक्षात्कार कर, विहरता हू।' आलार कालाम ने उत्तर दिया, 'मेरा सौभाग्य है कि मुझे तुम जैसे

---

१ अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)

२. सयुत्त-निकाय।

सब्रह्मचारी मिले। जिस धर्म को मैने साक्षात्कार कर जीवन मे अभ्यास किया है, उसीको तुमने भी साक्षात्कार कर अभ्यास किया है। जिस धर्म को मै जानता हू, उस धर्म को तुम जानते हो। जिस धर्म को तुम जानते हो, उस धर्म को ही मै जानता हूं। हम तुम दोनो समान है। जैसे तुम, वैसा मै। जैसा मै, वैसे तुम। आओ आयुष्मन्! हम तुम दोनो मिलकर इस गण का नेतृत्व करे।' इस प्रकार आलार कालाम ने आचार्य होते हुए भी मुझ शिष्य को अपने समान पद पर स्थापित किया और मेरे प्रति बडा सम्मान प्रदर्शित किया। परन्तु मैने सोचा—यह शिक्षा केवल आकिचन्यायतन तक ले जानेवाली है। इससे निर्वेद, विराग, निरोध, उपशम, ज्ञान, सबोध और निर्वाण की प्राप्ति नही हो सकती। तब मै उस धर्म को अपर्याप्त समझकर वहा से उदासीन हो चल दिया।

"श्रेष्ठ शान्ति-पद की खोज करते हुए मै उद्रक रामपुत्र के पास पहुचा। उद्रक रामपुत्र ने नैवसज्ञा-नासज्ञा-आयतन बतलाया अपने समान पद पर स्थापित किया। मैने सोचा—यह धर्म न निर्वेद के लिए है, न ज्ञान के लिए, न उपशम के लिए, न निर्वाण के लिए। उस धर्म को अपर्याप्त समझकर, वहा से उदासीन हो चल दिया।"[१]

"शान्ति की खोज मे मगध मे घूमते हुए मै क्रमश उरुवेला सेनानी-निगम मे पहुचा। वहा मैने देखा कि एक रमणीय भूमिभाग मे, वनखण्ड मे, एक नदी वह रही है, जिसके घाट अत्यत सुन्दर और श्वेत है। चारो ओर फिरने के लिए गाव थे। मैने सोचा—मुक्ति के लिए प्रयत्न करने वाले कुल-पुत्रो के लिए यह भूमि ध्यान करने के लिए अनुकूल है। यह ध्यान-योग्य स्थान है। मै वहा ध्यान करने के लिए बैठ गया।"[२]

"सारिपुत्र! मुझे स्मरण है कि उस समय मै नग्न (अचेलक) भी रहा था, मुक्ताचार भी रहा था। अपने लिए दी गई भिक्षा को मै ग्रहण नहीं करता था, और न निमन्त्रण स्वीकार करता था। कभी-कभी

---

१. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)
२. अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम. १।३।६)

मै एक ही घर भिक्षा करता था और मेरा आहार होता था केवल एक या दो कौर। एक दिन मे एक ही वार आहार करता था और कभी-कभी दो-दो, सात-सात और यहा तक कि पन्द्रह-पन्द्रह दिन मे एक ही वार खाना खाता था। कभी केवल शाक ही खाता था, कभी संवा और कोदो ही। सारिपुत्र ! मै तृण-भक्षी भी था और गोवर-भक्षी भी। मै वल्कल चीर पहनता था और कभी-कभी मुर्दे के कपडो को ही धारण करता था। काटे की शैया पर सोता था और शाम को जल-शयन के व्यापार मे लग्न होता था। अनेक प्रकार से मै अपनी काया को कष्ट देता था। सारिपुत्र ! इस हद तक मेरी यह तपस्विता थी।

"सारिपुत्र ! पपडी पडे अनेक वर्ष के मैल को मै अपने शरीर पर सचित किये रहता था। मै अपने इस मैल को अपने हाथ से धोऊ या दूसरे इसे धोयें, यह इच्छा भी मुझे न होती थी। सारिपुत्र ! इस हद तक मेरा रुक्षाचार वढा हुआ था।

"सारिपुत्र ! मै वहा नितान्त एकान्तसेवी था। यदि किसी ग्वाले, घसियारे या लकडहारे को भी देखता तो उससे हटकर किसी दूसरे वन या खड्ड को चला जाता था, ताकि वह मुझे न देखे और मैं उसे न देखू।

"सारिपुत्र ! हेमन्त की रातो मे मै चौडे मे रहता था। मुर्दों की हड्डियो का सिराहना वनाकर मै श्मशान मे शयन करता था। चरवाहे आकर मुझपर थूकते भी थे, मूत्र भी करते थे, धूल भी फेंकते थे और मेरे कानो मे सींक भी करते थे। परन्तु सारिपुत्र ! मुझे उनके विषय मे कोई वुरा भाव उत्पन्न नही होता था। इस हद तक मै उपेक्षा-विहारी था।"[1]

"अग्निवेश ! मेरे मन मे हुआ—क्यो न मै दातो के ऊपर दात रख, जिह्वा द्वारा तालू को दवा, मन से मन को निग्रह करू। तव मेरे दात पर दात रखने, जिह्वा से तालू को दवाने के कारण मेरी काख से पसीना निकलता था। उस समय मैने अदम्य वीर्य आरम्भ किया था।

---

१. अस्सी वर्ष की अवस्था में भगवान् ने अपने प्रधान शिष्य सारिपुत्र को अपनी तपस्या का यह विवरण सुनाया था। महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम. १।२।२)।

मेरी स्मृति जागृत थी और काया तत्पर थी। फिर मैने मुख, नासिका और कानो से श्वास का आना-जाना रोक दिया। आश्वास-प्रश्वास रुक जाने से मेरे सिर मे वात टकराने लगे, कडी सिर की वेदना होने लगी। फिर मैने श्वास-रहित ध्यान करना आरम्भ किया। मेरे पेट को वात छुरे की तरह छेदने लगी। काया मे अत्यधिक ताप होने लगा। देवता भी मुझे देखकर कहते थे—'श्रमण गोतम मर गया।' कोई देवता कहते थे 'श्रमण गोतम मरा नही है, न मरेगा, अर्हत् का तो इस प्रकार का विहार होता ही है।'' [१]

"तब मैने सोचा—क्यो न मै आहार को बिल्कुल ही छोड देना स्वीकार करूं। तव देवताओ ने मेरे पास आकर कहा—मित्र! यदि तुम आहार का बिल्कुल छोडना स्वीकार करोगे तो हम तुम्हारे रोम-कूपो द्वारा दिव्य ओज डाल देंगे, उसीसे तुम निर्वाह करोगे। मैने सोचा —इस प्रकार तो मेरा तप मृषा होगा। मैने उन देवताओ का प्रत्याख्यान किया—'रहने दो'। और मै थोडा-थोडा आहार ग्रहण करने लगा। केवल मुट्ठीभर मूग की दाल या अरहर की दाल का जूस (यूस) लेता था। उस समय मेरा शरीर दुर्वलता की चरम सीमा को पहुच गया था। पुरानी शाल की कडियो के समान मेरी पसुलिया हो गई थी, ऊट के पैर के समान मेरा कूल्हा हो गया था। यदि मै पेट की खाल को मसलता था तो पीठ के काटो को पकड लेता था और पीठ के काटो को मसलता तो पेट की खाल को पकड लेता था। यदि मै मल-मूत्र करने जाता तो वही बेहोश होकर गिर जाता था। काया को हाथ से रगडता तो सडी जडवाले रोम झड पडते थे। लोग मुझे देखकर कहते 'श्रमण गोतम काला है।' कोई मनुष्य कहते, 'श्रमण गोतम काला नही है, श्याम है।' कुछ कहते 'श्रमण गोतम न काला है, न श्याम, वह मगुर-वर्ण है।' मेरा स्वच्छ, गौर वर्ण सर्वथा नष्ट हो गया था।"[२]

---

१ अग्निवेष नामक जैन पडित से भगवान् ने यह कहा। महासच्चक-सुत्त (मज्झिम. १।४।६)।

२. महासच्चक-सुत्त (मज्झिम. १। ४। ६), मिलाइये बोधिराजकुमार-सुत्त (मज्झिम. २।४।५) भी।

"तब मैने सोचा ! अतीत काल मे जिन किन्ही श्रमण-ब्राह्मणो ने घोर दुःख और तीव्र वेदनाए झेली होगी, वह इसी हद तक झेली होगी, इससे अधिक नही। लेकिन उस दुष्कर तपस्या मे मैने परम तत्त्व को न पाया, अलमार्यज्ञानदर्शन मुझे न मिला। मैने सोचा—क्या बोधि के लिए कोई दूसरा मार्ग है ?"

"मुझे स्मरण आया—मैने पिता शुद्धोदन शाक्य के खेत पर जामुन की ठडी छाया मे अकुशल-धर्मो से चित्त को हटाकर प्रथम ध्यान को प्राप्त किया था, शायद वह मार्ग बोधि का हो ? परन्तु इस प्रकार अत्यन्त कृश और दुर्बल काया से तो वह मिलना सुकर नही है। क्यो न मै स्थूल आहार दाल-भात को ग्रहण करू। मैं दाल-भात ग्रहण करने लगा। उस समय मेरे पास पाच भिक्षु इस आशा से रहा करते थे कि श्रमण गोतम जिस धर्म को प्राप्त करेगा, उसे हमे भी बतलायेगा। परन्तु जब मै दाल-भात ग्रहण करने लगा तो उन्होने सोचा—श्रमण गोतम सग्रही हो गया है, तपस्या मे विमुख हो गया है। उदासीन होकर वे मुझे छोडकर चले गए।" [1]

"स्थूल भोजन से मुझमे शक्ति वापस आई और मै प्रथम ध्यान के सुख को प्राप्त कर विहरने लगा। क्रमश ध्यान की द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओ को मैने प्राप्त किया। मैने अपने अनेक पूर्व-जन्मो को स्मरण किया। प्राणियो के जन्म-मरण का ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ। उन्हे नाना गतियो मे आते-जाते मैने देखा। मैने साक्षात्कार किया—'यह दु ख है', 'यह दु ख-समुदय है', 'यह दु.ख-निरोध है' और यह 'दु ख-निरोध का मार्ग' है। मैने अनुभव किया—मेरी अविद्या चली गई है, विद्या प्राप्त हुई है, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ है। मेरा चित्त विमुक्त हो गया, जन्म समाप्त हुआ, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ। करना था सो कर लिया, अब आगे कुछ करने को नही है।" [2]

"अनेक जन्मो तक निरन्तर इस ससार मे दौड़ता रहा। गृहकारक को खोजते-खोजते पुन -पुन दु खमय जन्मो मे पडता रहा। हे गृह-

---

१-२. उपर्युक्त के समान।

-कारक ! अब मैने तुझे देख लिया। अब फिर तू घर नही बना सकेगा। तेरी सभी कड़िया भग्न हो गई। गृह का शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्त मे तृष्णा का क्षय हो गया।"[1]

"उरुवेला मे इच्छानुसार विहार कर मै वाराणसी की ओर चल पड़ा। क्रमश. यात्रा करते हुए मै वाराणसी मे ऋषिपतन मृगदाव मे पहुचा, जहा पचवर्गीय भिक्षु थे। पचवर्गीय भिक्षुओ ने सोचा—साधना-भ्रष्ट श्रमण गोतम आ रहा है। हम इसे अभिवादन नही करेगे, इसके पात्र-चीवर को आगे बढकर नही लेगे। जैसे-जैसे मै पचवर्गीय भिक्षुओ के समीप आता गया, वे अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रह सके। एक ने आसन बिछाया, दूसरे ने पैर धोने का जल दिया, तीसरे ने पैर का पीढ़ा पास लाकर रख दिया। मै बिछे आसन पर बैठ गया और पैर धोये। पचवर्गीय भिक्षुओ से मैने कहा—भिक्षुओ ! तथागत साधना-भ्रष्ट नही है। वह सम्यक् सम्बुद्ध है। उन्हे मित्र (आयुष्मान्) कहकर मत पुकारो। वे तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध है। मैने अमृत को पाया है। मै तुम्हे इसका उपदेश करता हू। तुम भी उपदेशानुसार आचरण कर इसी जन्म मे उसका साक्षात्कार कर विहरोगे। वहा जब मै दो भिक्षुओ को उपदेश करता था, तो तीन भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे। तीन भिक्षु भिक्षाचार करके जो लाते थे, उससे हम छहो व्यक्ति निर्वाह करते थे। जब तीन भिक्षुओ को मै उपदेश करता था, तो दो भिक्षु भिक्षा के लिए जाते थे।"[2]

"दो भिक्षु कोलित (मोग्गल्लान) और उपतिष्य (सारिपुत्र) मेरे प्रधान शिष्य है। आनन्द मेरा सेवक-शिष्य है, जो सदा मेरे पास रहता है। क्षेमा और उत्पलवर्णा मेरी भिक्षुणी-शिष्याओ मे प्रधान है। चित्र और हस्तावलक मेरे प्रधान गृहस्थ-शिष्य (उपासक) है। नन्दमाता और उत्तरा मेरी दो प्रधान गृहस्थ-शिष्याए (उपासिकाए) है।"[3]

---

१ धम्मपद ११। ८-९।
२. अरियपरियेसन-सुत्त (मज्झिम १।३।६)।
३ बुद्धवंस, पृष्ठ ७२।

"चलो आनन्द ! जहां अम्बलट्ठिका है, वहा चले ।"

"चलो आनन्द ! जहा पाटलिगाम है, वहा चलें ।"

"आओ आनन्द ! जहा कोटि-ग्राम है, वहा चले ।"

"आओ आनन्द ! जहा नादिका है, वहा चले ।"

"भिक्षुओ ! तुम वैशाली के चारो ओर वर्षावास करो । मै यहीं वेलुव-ग्राम मे वास करूगा ।"

"आनन्द ! मै वृद्ध, वय प्राप्त हू । अस्सी वर्ष की मेरी उम्र है । आनन्द ! जैसे पुरानी गाडी वाध-बूंध कर चलती है, ऐसे ही तथागत का शरीर वाध-बूधकर चल रहा है। इसलिए आनन्द ! तुम आत्म-शरण, आत्मदीप होकर विहरो ।"

"आनन्द ! आसन उठाओ ! जहाँ चापाल चैत्य है, वहाँ दिन के ध्यान के लिए चलेगे ।"

"आओ आनन्द ! जहा महावन-कूटागारशाला है, वहा चले ।"

"भिक्षुओ ! अचिर काल मे ही तथागत का परिनिर्वाण होगा । आज से तीन मास बाद तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेगे। मेरा आयु परि-पक्व हो गया, मेरा जीवन थोडा है । तुम्हे छोडकर जाऊगा, मैंने अपने करने योग्य काम को कर लिया है। भिक्षुओ ! निरालस, सावधान, सुशील होओ । सकल्प का अच्छी तरह समाधान कर अपने चित्त की रक्षा करो ।"

"आनन्द ! तथागत का यह अन्तिम वैशाली-दर्शन होगा ।"

"आओ आनन्द ! जहाँ भण्ड गाव है, वहाँ चले ।"

"आओ आनन्द ! जहा आम्र गाव है, वहा चले ।"

"आनन्द ! जम्बु ग्राम चले ।"

"आनन्द ! भोगनगर चले ।"

"आओ आनन्द ! जहा कुसिनारा है, वहा चले ।"

"आनन्द ! मेरे लिए चौपेती सघाटी बिछा दो । मै थक गया हूं, बैठूंगा ।"

"आनन्द ! मेरे लिए पानी लाओ । प्यासा हू, आनन्द ! पानी पीऊगा ।"

"आनन्द ! आज रात के पिछले पहर कुसिनारा के उपवर्तन नामक मल्लो के शाल-वन मे जुडवॉ शाल वृक्षो के नीचे तथागत का परिनिर्वाण होगा। आओ आनन्द ! जहा ककुत्था नदी है, वहा चले।"

"चौपेती सघाटी बिछा दो, लेटू गा।"

"आओ, आनन्द ! जहा हिरण्यवती नदी का दूसरा किनारा है, वहाँ कुसिनारा के मल्लो का शालवन है। वहा चले।"

"आनन्द ! जुडवा शालो के बीच मे उत्तर की ओर सिरहाना कर चारपाई बिछा दो। थका हू, आनन्द ! लेटू गा।"

"आनन्द ! शायद तुम्हे ऐसा हो कि हमारे शास्ता चले गए, अब हमारे शास्ता नही रहे। ऐसा मत समझना, आनन्द ! मैने जो धर्म और विनय उपदेश किये है, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होगे।"

"हन्त भिक्षुओ ! अब तुम्हे कहता हू—सस्कार नाशवान् है। अप्रमाद से (लक्ष्य) सम्पादन करो।"[1]

यह तथागत का अन्तिम वचन था।

: ३ :

बुद्ध की मानवता

भगवान् बुद्धदेव और मनुष्यो के शास्ता थे, देवातिदेव थे। परन्तु सबसे पहले वह मनुष्य थे। मनुष्य बढ कर देवता बनता है—यह प्राचीन मान्यता थी। आज भी हम मनुष्यत्व के ऊपर देवत्व की बात कहते है। परन्तु तथागत ने इस क्रम को उलट दिया। उन्होने कहा, "यह जो मानुपत्व है, वही देवताओ का सुगति प्राप्त करना कहलाता है।" "मनुस्सत्त खो भिक्खवे देवान सुगतिगमनसखात।" देवता जब सुगति प्राप्त करता है, तब वह मनुष्य बनता है। देवताओ मे विलास है। राग, द्वेष, ईर्ष्या और मोह भी वहा है। निर्वाण की साधना वहा नही हो सकती। इसके लिए देवताओ को मनुष्य बनना पडता है। मनुष्यो मे ही बुद्ध-पुरुष का

---

१. महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ २।३)

आविर्भाव होता है, जिसको देवता नमस्कार करते है। अत मनुष्य-धर्म देवता-धर्म से उच्चतर है, जैसे कि विराग भोग से महत्तर है।

मानवता-धर्म का उपदेश देनेवाले भगवान् तथागत स्वय मानवता के मूर्तिमान् रूप थे। यहा हम उनके जीवन से सबधित कुछ प्रसगो और घटनाओ का उल्लेख करेगे, जिनसे उनके व्यक्तित्व मे पैठी हुई गहरी मानवता के कुछ दर्शन हमे होगे।

भगवान् का परिनिर्वाण होनेवाला है। रात का पिछला पहर है। भिक्षु भगवान् की शैया को घेरे हुए बैठे है। भिक्षु-संघ को भगवान् अन्तिम उपदेश दे रहे हैं। शास्ता कह रहे है, "भिक्षुओ! बुद्ध, धर्म और सघ के सम्बन्ध में यदि किसी भिक्षु को कुछ शका हो तो पूछ लो! पीछे अफसोस मत करना—शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम भगवान् से कुछ पूछ न सके।" कोई शिष्य नही बोलता, सब मौन है। तीन बार भगवान् कहते है, किन्तु कोई भिक्षु पूछने को नही उठता। भगवान् को शका हो जाती है कि कही शास्ता के गौरव का विचार कर तो शिष्य पूछने मे सकोच नही कर रहे। अत कारुणिक शास्ता फिर कहते है, "शायद भिक्षुओ! तुम शास्ता के गौरव के कारण नहीं पूछ रहे। तो भिक्षुओ! जैसे मित्र मित्र से पूछता है, वैसे तुम मुझसे पूछो।" "सहायको पि भिक्खवे सहायकस्स आरोचेतूति।" शास्ता शिष्यो की समान भूमि पर आ जाते है। उन्हे चिन्ता है कि कही उनका विशाल लोकोत्तर व्यक्तित्व शिष्यो के कल्याण मे बाधक न बने। अत वह उनके सखा बनते है, ताकि शिष्य नि सकोच भाव से उनसे पूछ सके। धर्मस्वामी की यह विनम्रता मनुष्य-धर्म की आधार-भूमि है। भगवान् बुद्ध ने अपने को भिक्षुओ का 'कल्याण-मित्र' कहा है जो उनकी मानवीय सहृदयता और विनम्रता को सूचित करता है। वे अपने शिष्यो के शास्ता है और उससे बढकर वह उनके मित्र या 'कल्याण-मित्र' है। "आनन्द! मुझ कल्याण-मित्र को पाकर जन्म-धर्मा प्राणी जन्म से विमुक्त हो जाते है।" "ममं हि आनन्द कल्याणमित्तं आगम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्तीति।"

एक दूसरा दृश्य भी भगवान् के परिनिर्वाण के समय का है। चुन्द

कर्मारपुत्र (धातुकार) के यहा भगवान् ने अन्तिम भोजन किया था। उसके बाद ही भगवान् को खून गिरने की कडी बीमारी उत्पन्न हो गई थी, जो उनके शरीरान्त का कारण बनी। तथागत को चुन्द कर्मारपुत्र के हृदय का बडा ख्याल था। भक्त उपासक को यह अफसोस हो सकता था कि उसका भोजन करके ही भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इसलिए शरीर छोडने से पूर्व भगवान् आनन्द को आदेश देते है, "आनन्द! चुन्द कर्मारपुत्र की इस चिन्ता को तू दूर करना और कहना, आयुष्मन्! लाभ है तुझे, तूने बडा लाभ कमाया कि तेरे भोजन को कर तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। आनन्द! चुन्द कर्मारपुत्र की चिन्ता को तू दूर करना।" जिसके हृदय मे अगाध करुणा का अधिवास था, वह ऐसा क्यो न कहता?

कितना क्रियाशील था तथागत का जीवन! जिस रात को उनका परिनिर्वाण हुआ और जब वह रुग्ण और क्लान्त शैया पर पडे हुए थे, उन्होने रात के पहले पहर मे कुसिनारा (कुशीनगर) के मल्लो को उपदेश दिया, बीच के पहर मे सुभद्र को और पिछले पहर मे भिक्षु-संघ को उपदेश देकर बहुत प्रातः ही महापरिनिर्वाण मे प्रवेश किया। यह सुभद्र कौन था, जिसे मध्य रात्रि में उपदेश देने के लिए भगवान् ने उस अवस्था मे समय निकाल लिया? सुभद्र एक परिव्राजक था, जो अपनी शकाओ को लिये हुए उस विषम घडी मे भगवान् गौतम बुद्ध से मिलने आ निकला। आनन्द ने उसे यह कहकर ठीक ही रोक दिया, "सुभद्र! तथागत को तकलीफ मत दो। भगवान् थके हुए है।" भगवान् ने आनन्द की बात सुन ली। उन्होने आनन्द से कहा, "नही आनन्द! सुभद्र को मत मना करो, सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। वह परम ज्ञान की इच्छा से पूछना चाहता है, तकलीफ देने की उसकी इच्छा नही है। पूछने पर जो मै उससे कहूगा, उसे वह जल्दी ही जान लेगा।" मध्य रात्रि मे, उस अवस्था मे, सुभद्र को भी तथागत से उपदेश सुनने का सौभाग्य मिला। अधिकारी शिष्य को उपदेश करने के लिए तथागत के पास कोई असमय न था।

वह एक बड़ी दुखियारी स्त्री थी। पति, पुत्र, परिवार सब उसका

नष्ट हो गया था। शोकातिरेक में वह पागल हुई फिरती थी। कपडे पहनने का होश उसे कहा था ? वह नगी ही फिरती थी। नाम उसका पटाचारा था। एक दिन घूमती हुई जेतवन आराम में ही आ निकली, जहा भगवान् ठहरे हुए थे। सीधी विहार की ओर आती हुई उस नग्न उन्मत्त स्त्री को देख पुरुषो ने कहा, "यह पागल है, इसे इधर मत आने दो।" परन्तु भगवान् ने उन्हे रोकते हुए कहा, "इसे मत रोको।" जैसे ही स्त्री समीप आई, भगवान् ने कहा, "भगिनि! स्मृति लाभ कर।" स्त्री को कुछ होश आया, लोगो ने उसपर कपडे डाल दिये, जिन्हे उसने ओढ लिया। स्त्री फूट-फूटकर रोने लगी। भगवान् ने कहा, "पटाचारे! चिन्ता मत कर। शरण देने मे समर्थ व्यक्ति के पास ही तू आ गई है।" भगवान् ने अपने उपदेशामृत से उसके शोक को दूर किया और वह एक प्रमुख साधिका हुई। करुणा, विशेषत स्त्री-जाति के प्रति करुणा, जिसके जीवन को भगवान् पुरुष के जीवन से अधिक दु खमय मानते थे, तथागत के स्वभाव की एक प्रमुख विशेषता थी।

तथागत ने अपने व्यक्तित्व को धर्म के रूप मे खो दिया था। यदि प्रसेनजित् तथागत के प्रति अपूर्व सत्कार प्रदर्शित करता था, यदि अनेक देश और विदेश के लोग तथागत की पूजा करते थे, तो इसका कारण स्वयं भगवान् बुद्ध की मान्यता के अनुसार धर्म ही था। तथागत उत्पन्न हो या न हो, धर्म-नियामता फिर भी रहती है, ऐसा उनका कहना था। इसलिए अपने बाद धर्म की शरण मे ही उन्होने भिक्षु-सघ को छोडा था। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय उन्होने भावनापूर्ण शब्दो मे आनन्द से कहा था "आनन्द! शायद तुमको ऐसा हो कि हमारे शास्ता तो चले गये। अब हमारे शास्ता नही है। आनन्द! ऐसा मत समझना। मैने जो धर्म और उपदेश किये है, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" भगवान् नही चाहते थे कि उनके शिष्य उनसे चिपटे रहे। उनको 'आत्मदीप', 'आत्म शरण' बनने का उपदेश था। इसलिए जब आनन्द ने भगवान् के परिनिर्वाण के समय उनसे पूछा कि 'तथागत के शरीर के प्रति हम क्या करेंगे' तो उन्होने यही उत्तर दिया, 'आनन्द! तथागत की शरीर पूजा से तुम बेपरवा रहो।' 'अव्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स

सरीरपूजाय'। तथागत अपनी शरीर-पूजा नही चाहते। वह चाहते है कि हम सच्चे अर्थ मे लगे। तथागत ने अपने व्यक्तित्व को धर्म में खो दिया। यह उनकी अनासक्ति थी। परन्तु जब उन्होने धर्म को बेडे के समान तरने के लिए, न कि पकड रखने के लिए, बतलाया, तब तो उन्होने धर्म से भी आसक्ति छोड देने का उपदेश दिया। सघ धर्म की शरण में छोडा गया और धर्म से बुद्ध एकाकार किये गए। बाद मे प्रयोजन पूरा हो जाने के बाद धर्म को भी छोड देने का आदेश देकर भगवान् ने उस अनासक्ति-योग का उपदेश दिया है, जो इस लोक की सीमा के पार ही देखा जा सकता है।

महापुरुषो के जीवन-काल मे ही उनके दैवीकरण की प्रवृत्ति प्राय दिखाई पडने लगती है। भगवान् इसके प्रति बडे सचेत थे। वह नही चाहते थे कि लोकोत्तर दैवी पुरुप की तरह उनकी पूजा हो या गुरुवाद उनके धर्म मे फैले। इसलिए जब एक बार उनके महाप्रज्ञ शिष्य धर्म-सेनापति ने उनसे कहा, "भन्ते! मेरा ऐसा विश्वास है कि सबोधि मे भगवान् से बढकर कोई दूसरा श्रमण या ब्राह्मण न हुआ, न होगा, न इस समय है।" तो भगवान् ने उल्टे हाथ लेते हुए सारिपुत्र से कहा, "सारिपुत्र! तूने बहुत उदार वाणी कही। बिल्कुल सिहनाद ही किया। सारिपुत्र! अतीतकाल मे जो सब ज्ञानी पुरुष हुए है, क्या तूने उन सबको अपने चित्त से जान लिया है!" धीमे स्वर मे सारिपुत्र ने उत्तर दिया, "नही भन्ते!" इसी प्रकार वर्तमान और भविष्य के ज्ञानियो के सबध मे पूछे जाने पर भी सारिपुत्र को 'नही भन्ते!' कहना पडा। "तो सारिपुत्र! जब तेरा अतीत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञानियो के सबध मे ज्ञान नही है, तो तूने यह उदार वाणी क्यो कही?"

इस सबध मे एक महत्वपूर्ण प्रसग और है। वक्कलि नामक उनका एक अनुरक्त भिक्षु-शिष्य था। एक बार वक्कलि बीमार पडा। उसने अपने एक साथी भिक्षु द्वारा इच्छा प्रकट की कि वह भगवान् के दर्शन करना चाहता है। भगवान् उसकी इच्छा को पूरी करनेके लिए उसके पास गये। दूर से भगवान् को आता देखकर वक्कलि उनके सम्मानार्थ एव उनको आसन देने के लिए चारपाई से उठने की चेष्टा

करने लगा। भगवान ने करुणापूर्वक उसे रोकते हुए कहा कि अलग आसन तैयार है, उसे हिलने-डुलने की आवश्यकता नही है। भगवान् बिछे आसन पर बैठ गये। वक्कलि ने भगवान् की वन्दना करते हुए उनसे निवेदन किया कि उसे उनके दर्शन की बड़ी इच्छा थी, जिसे कृपापूर्वक उन्होंने पूरा कर दिया है। भगवान् ने कोमल शब्दों में वक्कलि से कहा, "शान्त वक्कलि! जैसी तेरी गन्दी काया है, वैसी ही मेरी काया है। वक्कलि! इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ? वक्कलि! जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है।" भगवान् बुद्ध का अपने शरीर के सबंध में अपने शिष्य से यह कहना कि 'इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ?' (किमिना पूतिकायेन दिट्ठेन), एक ऐसी साहसिक वाणी है, जिसे कोई धर्मशास्ता गुरु अपने शिष्य या शिष्यों से आज तक नही कह सका है। रूप की आसक्ति तथागत की बिल्कुल नष्ट हो गई थी। और उसे दूर किये बिना कोई बुद्ध-शिष्य नही बन सकता।

भगवान् बुद्ध श्रमण थे, परन्तु गृहस्थो के प्रति सहानुभूति से रहित नही थे। कोलिय-दुहिता सुप्रवासा ने, जो गर्भ की असह्य वेदना से पीडित थी, जब अपने पति के द्वारा भगवान् के चरणो मे अपना प्रणाम अर्पित करवाया था, तो भगवान् ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा था, "कोलिय-पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चगी हो जाय। सुखी और चगी होकर वह बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" इसी प्रकार ब्राह्मणों के साथ भी, जैसे कि विश्व के सब प्राणियो के साथ, भगवान् को पूरी सहानुभूति थी। बावरि ब्राह्मण के एक शिष्य ने जब अपने गुरु की ओर से भगवान् के चरणो मे प्रणाम अर्पित किया तो भगवान् ने आशीर्वाद देते हुए कहा "शिष्योसहित बावरि ब्राह्मण सुखी हो। माणवक! तुम भी सुखी हो, चिरजीवी हो।" इन आशीर्वचनो मे झाकती हुई तथागत की करुणा के मानवीय स्वरूप को हम स्पष्टत देख सकते है।

तथागत स्वागतवादी थे। छोटा हो या बडा, जो भी जिज्ञासु उनके पास पहुचता था, उससे वह कहते थे, "आओ! स्वागत!" ("एहि सागत")। ब्राह्मण सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) उनकी इस विनम्रता से बहुत

प्रभावित हुआ था। उसने ही हमे यह बताया है कि श्रमण गौतम सब से "आओ स्वागत" कहनेवाले है। "समणो खलु भो गोतमो एहि-सागतवादी।" एक बार जब भिक्षुणी सुन्दरी भगवान् के दर्शनार्थ श्रावस्ती गई तो उसका स्वागत करते हुए भगवान् ने उससे कहा था, "आ कल्याणी! तेरा स्वागत है।" "तस्सा ते सागत भद्दे।" इसी प्रकार महाकाश्यप से भी प्रथम बार मिलने पर भगवान् ने कहा था, "आओ स्वागत!" ऐसा ही साक्ष्य देते हुए बुद्ध के कवि-शिष्य स्थविर वगीश ने कहा है, "बुद्ध के पास मेरा स्वागत हुआ।"

बुद्ध शिष्य-वत्सल थे और अपने शिष्यो का सम्मान करते थे। भगवान् जब अपनी अन्तिम यात्रा मे पावा और कुसिनारा के बीच जा रहे थे तो उधर से आते हुए पुक्कुस मल्लपुत्र नामक व्यापारी से उनकी भेट हुई, जिसने श्रद्धापूर्वक भगवान् को एक इगुर वर्ण का दुशाला अर्पित किया। परन्तु भगवान् उसे अकेले कैसे ओढते? आनन्द को सम्मानित करना चाहते थे। उन्होने पुक्कुस से कहा, "तो पुक्कुस! दुशाले के एक भाग को मुझे उढा दे, दूसरे को आनन्द को।" आनन्द को इससे अधिक कृतार्थता क्या हो सकती थी? यह उल्लेखनीय है कि जैसे ही पुक्कुस मल्लपुत्र चला गया, आनन्द ने दुशाले के अपने भाग को भी भगवान् के शरीर पर उढा दिया।

अन्य अवसरो पर भगवान् ने अपने दूसरे शिष्यो को भी उचित सम्मान दिये। जब तथागत की वृद्धावस्था मे उनके लिए एक नियत शरीर-सेवक की आवश्यकता पडी, तो सारिपुत्र ने अपने को इस काम के लिए अर्पित किया था, जिसे तथागत ने यह कह कर स्वीकार नही किया कि सारिपुत्र का धर्मोपदेश तथागत के समान ही गम्भीर होता है और जिस दिशा मे सारिपुत्र जाते है, उस दिशा मे फिर उन्हे जाने की आवश्यकता नही रहती, इसलिए ऐसे ज्ञानी से वह सेवा का काम नही ले सकते। जब अपने जीवन के अन्तिम समय मे सारिपुत्र ने शास्ता से निर्वाण-प्राप्ति के लिए विदा मागी तो स्वय शास्ता गन्ध-कुटी से बाहर निकलकर आये और अपने मुख से बार-बार उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हे विदाई दी। शास्ता से अद्वितीय सम्मान प्राप्त

करनेवालों मे आर्य महाकाश्यप सदा स्मृत रहेंगे । उन्हे तो शास्ता ने जैसे अपना वस्त्र-बदल मित्र ही बना लिया। अपना चीवर महा-काश्यप को दिया और महाकाश्यप का स्वय पहना और यह सब इस ढग से कि मानो कुछ कर ही नही रहे है । रास्ते मे एक जगह विश्राम के लिए बैठे थे कि महाकाश्यप के चीवर को टटोलकर कहने लगे कि यह बहुत मुलायम है । झट महाकाश्यप ने अपने उस वस्त्र को बुद्ध से लेने की प्रार्थना की । "परन्तु तुम क्या पहनोगे ?" "मै बुद्धो के द्वारा दिये गये वस्त्र को पहनूंगा, यदि वह मुझे मिलेगा ।" "परन्तु महाकाश्यप ! मेरा वस्त्र तो जीर्ण सन का है । प्राय फट चुका है ।" महाकाश्यप ने देर नही की और गुरु- शिष्य ने अपने वस्त्रो की अदल-बदल की। महाकाश्यप के लिए यह जीवन-पर्यन्त का गौरव बन गया और भिक्षु-सघ उन्हे और भी अधिक सम्मान की दृष्टि से देखने लगा, क्योंकि शास्ता ने अपने वस्त्र को पहनने योग्य केवल उन्हे ही समझा ।

योग्य जिज्ञासुओ के प्रति तथागत की विशेष अनुकम्पा थी । कई बार तो उन्होंने दूर तक जाकर ऐसे साधको की अगवानी की। यह सौभाग्य महाकाश्यप को तथा अन्य कई भिक्षुओ को मिला था । कहा गया है कि महाकप्पिन के स्वागतार्थ तो भगवान् चन्द्रभागा (चिनाव) नदी के तट तक गये थे । यह भिक्षु कुक्कुटवती नगरी के निवासी थे, जो वर्तमान काबुल नदी के आस-पास के प्रदेश मे थी । बुद्ध के आविर्भाव का समाचार सुनकर मध्य-देश की ओर चल पड़े थे। बुद्ध ने अपने ज्ञान से इसे जाना और चन्द्रभागा नदी के तट पर जाकर उनका स्वागत किया।

योग्य भिक्षुओ और भिक्षुणियो की ही नही, गृहस्थ स्त्री-पुरुषो की भी भगवान् ने कई अवसरो पर उन्मुक्त कण्ठ से प्रशसा की। विशेषत गृहस्थो मे नकुल-माता और नकुल-पिता उनसे प्रशसा पानेवालो मे मुख्य थे। इन वृद्ध दम्पती ने कभी एक दूसरे पर अपने जीवन भर क्रोध नही किया था। कई भिक्षुणियो ने अपनेको "बुद्ध की औरस दुहिता" कहकर पुकारा है, जिससे पता चलता है कि तथागत की करुणा मे मातृ-जाति का अश कुछ कम नही था। स्त्रियो को प्रव्रज्या का अधिकार भी इसीलिये मिल सका। कुक्कुटवती नगरी का राजा महाकप्पिन जब

संवेगापन्न होकर बुद्ध से मिलने के लिए निकल पडा था, तो उसकी पत्नी अनोजा ने यही कहकर उसका अनुसरण किया था, "बुद्ध का आविर्भाव केवल पुरुषो के लिए ही नही हुआ होगा, बल्कि स्त्रियो के लिए भी ।" इसी मर्म को समझकर भद्रा कापिलायिनी अपने पति (महाकाश्यप) के साथ बुद्ध के दर्शनो के लिए चल पडी थी ।

गलती करनेवालो के प्रति भी करुणा और अनुकम्पा का भाव दिखाना तथागत के लिए कुछ अधिक न था । एक बार की बात है कि वेरजा (मथुरा और सोरो के बीच मे एक स्थान) के निवासी एक ब्राह्मण ने भगवान् को वेरजा मे वर्षावास करने का निमत्रण दिया । भगवान् वहा गये, परन्तु वह ब्राह्मण बहुधन्धी था और उसने भगवान् की कुछ सुध-बुध नही ली । भगवान् बुद्ध को बहुत कष्ट हुआ । उन्हे तीन मास तक कुछ कुटी हुई जौ ही प्रतिदिन खानी पडी, क्योकि उस समय वेरजा मे अकाल पड रहा था और यह जौ भी बुद्ध और उनके शिष्यो को उत्तरापथ के घोडो के व्यापारियो के यहा से मिलती थी, जो उस समय वहा वर्षा के कारण पडाव डाले हुए थे । इतना होने पर भी वर्षावास की समाप्ति पर भगवान् बुद्ध अन्यत्र जाने से पूर्व वेरजक ब्राह्मण के पास जाकर उसे आशीर्वाद देना नही भूले । ब्राह्मण बहुत लज्जित हुआ, उसने क्षमा मागी । भगवान् ने उसपर अनुकम्पा करते हुए उसके यहाँ भोजन किया और उसे आशीर्वाद देते हुए विदाई ली । इससे कुछ विपरीत, परन्तु मानवता से उतना ही परिपूर्ण, बुद्ध-जीवन का एक दूसरा प्रसग लीजिये । भद्दिय (भदरिया, भागलपुर के समीप, विहार मे) मे एक बार भगवान् विचरते हुए गये, और वहा का मेण्डक गृहपति चाहता था कि जबतक भगवान् भद्दिय मे रहे, उसे ही उनकी नित्य सेवा का अवसर मिले । ऐसी उसने भगवान् से प्रार्थना भी की । कहा गया है कि तथागत उसे बिना सूचना दिये ही वहा से एक दिन चले गये ! जिसने कुछ सुध-बुध नही ली, उससे विदाई लेने और उसके यहा भोजन-कर अनुगृहीत करने गये और जो नित्य सेवा करना चाहता था, उसे बिना सूचना दिये ही चल दिये ! तथागतो के स्वभाव की गम्भीरता की थाह नही ली जा सकती !

बुद्ध बहुजनहितवादी थे। अपने जीवन को बहुतो के हित के लिए मानते थे। उनके जीवन की छोटी-से-छोटी घटना मे यह भावना बिधी मिलेगी। एक बार की बात है कि भगवान् कुसिनारा मे गये, जहा के एक मल्ल सरदार ने, जिसका नाम रोज था, भगवान् को अपने यहा भोजन के लिए निमन्त्रित किया और उनसे प्रार्थना की, "भन्ते! अच्छा हो कि जबतक आप यहाँ है, आप और अन्य भिक्षु मेरे यहा ही भोजन, वस्त्र, आसन आदि ग्रहण करे, दूसरो के यहा नही।" बुद्ध ने उसे उत्तर दिया, "रोज! तेरी तरह जिन लोगो ने धर्म को अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण दर्शन से देखा है, उन्हे ही यह होता है कि भगवान् हमारे यहा ही भोजन, वस्त्र, आसन आदि ग्रहण करे, दूसरो के यहा नही। तो रोज, हम तेरा भी ग्रहण करेंगे, दूसरो का भी।" "तेन हि रोज तव चेव पटिग्गहस्सन्ति अञ्ञेस चाति।"

पालि-परम्परा के अनुसार बुद्ध ने पैंतालीस वर्ष तक चारिकाए करते हुए धर्मोपदेश किया, और सस्कृत बौद्ध ग्रन्थो की परम्परा के अनुसार ४९ वर्ष तक। लङ्कावतार-सूत्र मे बुद्ध भगवान् कहते है, "इन उनचास वर्षों मे मैंने धर्म पर एक शब्द भी भाषित नही किया है।" बडी आश्चर्यजनक बात! बुद्ध भगवान् ने अपने शिष्यो और भावी जनता पर अनुकम्पा करते हुए इतना कुछ कहा कि वह त्रिपिटक जैसे विशाल साहित्य मे भरा पडा है। फिर भी वह कहते है—मैंने धर्म पर एक शब्द भी नही कहा है! यह तथागत की असगता का सूचक है, उनकी पूर्ण निर्लेपता का प्रमाण है। पालि महापरिनिब्बाण-सुत्त मे भी हम देखते है कि उनके महापरिनिर्वाण के अवसर पर जब आनन्द उनसे प्रार्थना करते है कि वह सघ के लिए कुछ कहे, तो तथागत कहते है कि उन्हे कभी यह धारणा ही नही हुई कि सघ को उन्होने स्थापित किया है या कि सघ उनके सहारे से है, वह सघ के लिए क्या कहेगे? चाहे इसे हम तथागत की लोकोत्तर विनम्रता कहे, चाहे अनासक्ति, चाहे महायानिक पारिभाषिक शब्दो मे उनकी 'अनाभोग चर्या', यह बुद्ध के जीवन की एक भारी विशेषता है और उनकी सम्पूर्ण मानवता इसीसे निकली हुई है।

बुद्ध के स्वभाव और उनके जीवन की घटनाओ पर जितना हम विचार करे, उतना ही अधिक हमे उनमे अन्तर्निविष्ट उनकी मानवता के दर्शन होते है।[1] बुद्ध के जीवन की कोमलता लोकोत्तर थी। उनकी वाणी मे अपूर्व श्लक्ष्णता थी, जो सबको अपनी ओर खीचती थी। क्रोध-पूर्ण शब्द कभी उनके मुख से नही निकले थे। वह एक ऐसे पुरुष थे, जिनकी भौहे कभी टेढी होती हुई नही देखी गई थी। वह 'अब्भाकुटिको' थे। सकल्प उनके वश मे थे। वह मनुष्य थे, परन्तु मनुष्य की दुर्बल-ताओ और असगतियो से ऊपर उठ चुके थे। इसीलिए वह पूर्ण पुरुष थे। न हम उन्हे अन्तत मनुष्य कह सकते है और न देवता। बुद्ध केवल बुद्ध है, जिनके व्यक्तित्त्व मे मानवता की शुभ्र ज्योत्स्ना धर्म की स्थिति बनकर चमकी है।

: ४ :

बुद्ध की चारिकाएं

बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सात सप्ताह बोधि-वृक्ष और कुछ अन्य वृक्षो के नीचे समाधि-सुख मे बिताये। बोधि-वृक्ष के नीचे चार सप्ताह ध्यान करने के पश्चात् भगवान् बुद्ध अजपाल नामक बरगद के वृक्ष के नीचे गये। वहा एक सप्ताह तक उन्होने ध्यान किया। इसके बाद भगवान् मुचलिन्द नामक वृक्ष के नीचे गये। यहा भी उन्होंने एक सप्ताह तक ध्यान किया। तदनन्तर भगवान् ने राजायतन नामक वृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक ध्यान किया। इस प्रकार बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद सात सप्ताह तक भगवान् बुद्ध ने विभिन्न वृक्षो के नीचे ध्यान किया। सातवे सप्ताह की समाप्ति पर तपस्सु और भल्लिक नामक दो

---

१. अन्य प्रसगों के लिए 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित लेखक की पुस्तक 'बुद्ध और बौद्ध साधक' के लेख 'बुद्ध के स्वभाव व जीवन की विशेषताए' देखे।

व्यापारियों ने, जो पाच सौ गाडियों को साथ लिये हुए उत्कल जनपद से मध्य-देश की ओर आ रहे थे, भगवान् को राजायतन वृक्ष के नीचे बैठे देखा और मट्ठे और लड्डू से भगवान् का सत्कार किया, जिससे उन्होंने कृपापूर्वक स्वीकार किया। तदनन्तर हम भगवान् को फिर अजपाल नामक बरगद के पेड के नीचे जाते देखते है और यही पर धर्म-प्रचार का सकल्प करने के पश्चात् वह वाराणसी के इसिपतन मिगदाय (ऋषिपतन मृगदाव) की ओर चल पडते है, जहा पचवर्गीय भिक्षु उस समय निवास कर रहे थे। उरुवेला से काशियो के नगर वाराणसी को जाते हुए, बोध-गया और गया के बीच रास्ते मे, भगवान् को उपक नामक आजीवक साधु मिला और उससे उन्होने कहा "मै जिन हू।"

क्रमश चारिका करते हुए भगवान् वाराणसी के समीप ऋषिपतन मृगदाव मे पहुचे।[1] यहा आषाढ पूर्णिमा के दिन धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त का उपदेश दिया गया तथा पचवर्गीय भिक्षुओ को त्रिरत्न-शरणागति प्राप्त हुई। इसके पाच दिन बाद अनत्तालक्खण-सुत्तन्त का उपदेश दिया गया। इसके दूसरे दिन वाराणसी के प्रसिद्ध श्रेष्ठि-पुत्र यश की प्रव्रज्या हुई। इसके बाद यश के कई गृहस्थ-मित्र भिक्षु बने और क्रमश अर्हतो की सख्या, भगवान् बुद्ध को छोडकर, साठ हो गई।

ऋषिपतन मृगदाव मे भगवान् ने अपना प्रथम वर्षावास किया, जिसके बाद वह आश्विन पूर्णिमा (महापवारणा) के दिन साठ भिक्षुओ को भिन्न-भिन्न दिशाओ मे धर्म-प्रचारार्थ जाने का आदेश देकर स्वय उरुवेला के सेनानीगाम की ओर चल पडे। वाराणसी होते हुए वह पहले कप्पासिय वनखण्ड मे पहुंचे, जहा भद्रवर्गीय नामक तीस व्यक्तियों को प्रव्रजित किया और फिर उरुवेला पहुंच कर भगवान् वहा तीन मास ठहरे। उरुवेला के तीन प्रसिद्ध जटाधारी साधु-बन्धुओ (तेभातिक

---

१ बीच की यात्रा का विवरण पालि-तिपिटक में नही है। परन्तु 'ललित-विस्तर' में बीच के पडावों का भी उल्लेख है। उदाहरणात वहा कहा गया है कि बीच में गगा नदी को पार करने में भगवान् को कठिनाई हुई, क्योंकि उनके पास नाव वाले को देने के लिए पैसे नहीं थे। बाद में बिम्बिसार को जब यह बात मालूम पडी, तो उसने सब साधुओं को नि शुल्क पार उतारने की आज्ञा दी।

जटिले)—उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप—को उनके विशाल साधु-सघ के सहित भगवान् ने उपसम्पादित किया। अपने इन अनुयायियो को साथ लेकर भगवान् उरुवेला से गया के गयासीस (गयाशीर्ष) पर्वत पर गए, जहाँ उन्होने आदित्तपरियाय-सुत्त का उपदेश दिया। तदनन्तर भिक्षु-सघ सहित भगवान चारिका करते हुए पौप (फुस्स) मास की पूर्णिमा को राजगृह पहुचे। यहा भगवान् लट्ठि-वनुय्यान (यष्टिवन उद्यान—वर्तमान जेठियन) के सुप्रतिष्ठ चैत्य में ठहरे। यही मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार उनसे मिलने आया। दूसरे दिन भोजनोपरान्त बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-सघ को उसने वेणुवन उद्यान अर्पित किया। इसके बाद भगवान् दो मास तक और राजगृह मे ठहरे और फिर सम्भवत इसी वर्ष वर्षावास से पूर्व लिच्छवियो की प्रार्थना पर, जो उन्होने महालि के द्वारा भेजी थी, भगवान् वैशाली गये। इस समय वैशाली नगरी महामारी से पीडित थी। भगवान् ने वहा जाकर रतन-सुत्त का उपदेश दिया और वैशालीवासियो के सब रोग-दुःख दूर हुए। वैशाली से लौटकर भगवान् फिर राजगृह आ गये, जहा वह वेणुवन मे ठहरे, परन्तु शीघ्र ही फाल्गुण (फग्गुण) की पूर्णिमा को उन्होने अपने पिता और परिजनो के अनुकम्पार्थ अपने बाल्यावस्था के मित्र काल उदायी की प्रार्थना पर, जिसे शुद्धोदन ने उन्हे कपिलवस्तु लाने के लिए भेजा था, कपिलवस्तु के लिए प्रस्थान कर दिया। जातकट्ठकथा की निदान-कथा मे राजगृह से कपिलवस्तु की दूरी साठ योजन बताई गई है। भगवान् दो मास मे कपिलवस्तु पहुचना चाहते थे। इसलिए धीमी गति से चले। भगवान् के साथ अग-मगध जनपदो के अनेक निवासी भी थे। निश्चित समय पर भगवान् कपिलवस्तु पहुचे, जहा उन्हे न्यग्रोधाराम मे निवास प्रदान किया गया। मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा के अनुसार भगवान् बुद्ध की कपिलवस्तु की इस प्रथम यात्रा के अवसर पर ही उनकी मौसी महाप्रजावती गौतमी ने अपने हाथ से काते और बुने नये दुस्स (धुस्से) के जोडे को भगवान् को भेट करने की इच्छा प्रकट की, जिसका वर्णन मज्झिम-निकाय के दक्खिणा-विभग-सुत्त में है। नन्द और राहुल की प्रव्रज्या इसी समय हुई और उसके थोडे समय

बाद ही भगवान् कपिलवस्तु से चल दिये और मल्लो के देश में चारिका करते हुए अनूपिया के आम्रवन मे पहुचे, जहा भद्दिय, अनुरुद्ध, भृगु, किम्बिल, देवदत्त और उपालि की प्रव्रज्या हुई। आगे चलते हुए भगवान् राजगृह लौट आये, जहा के सीतवन मे, जो एक श्मशान-वन था, भगवान् ने अपना दूसरा वर्षावास किया।

जिस समय भगवान् राजगृह मे निवास कर रहे थे, उसी समय श्रावस्ती का श्रेष्ठी सुदत्त (अनाथपिण्डिक), जो राजगृह मे अपने किसी काम से आया था, भगवान् से मिला और उनसे प्रार्थना की कि अगला वर्षावास वह कृपाकर श्रावस्ती मे करे। भगवान् ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और राजगृह से चलकर पहले वैशाली पहुचे, जहा की महावन कूटागारशाला मे उन्होने विहार किया और फिर आगे चारिका करते हुए श्रावस्ती पहुचे। यहा अनाथपिण्डिक ने ५४ कोटि धन से जेतवनाराम बनवाकर आगत-अनागत चातुर्दिश भिक्षु-सघ को अर्पित किया। कुछ विद्वानो का मत है कि इसी समय विशाखा मृगार-माता ने पूर्वाराम नामक विहार बनवाकर बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-सघ को दान किया। परन्तु यह घटना काफी बाद की जान पडती है, सम्भवत बुद्ध के बाईसवे वर्षावास के समय की, जिसे भी उन्होने श्रावस्ती मे किया था। अंगुत्तर-निकाय और बुद्धवस की अट्ठकथाओ के अनुसार भगवान् वर्षावास से पूर्व राजगृह लौटकर आ गये, जहा उन्होने बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद की दूसरी वर्षा के समान अपनी तीसरी वर्षा भी बिताई।

भगवान् ने अपना चतुर्थ वर्षावास राजगृह के कलन्दक निवाप मे किया। यही उन्होने राजगृह के एक श्रेष्ठि-पुत्र को, जिसका नाम उग्गसेन (उग्रसेन) था और जो रस्सी पर नाच दिखानेवाली एक नटिनी के प्रेम मे पडकर स्वय उसी काम को करने लगा था, बुद्ध-धर्म मे दीक्षित किया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के पाचवे वर्ष मे भगवान् के पिता शुद्धोदन की मृत्यु हो गई। इसी समय शाक्यो और कोलियो मे रोहिणी नदी के पानी को लेकर झगडा हुआ। भगवान् इस समय वैशाली की महावन कूटागार-शाला मे विहर रहे थे। वह वहा से कपिलवस्तु गये और वहा के न्यग्रो-

''धाराम में ठहरे। यह भगवान् के द्वारा की हुई कपिलवस्तु की दूसरी यात्रा थी। इसी समय महाप्रजावती गौतमी ने भगवान् से प्रार्थना की कि वह उन्हे भिक्षुणी बनने की अनुमति दे दे। भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नही की और वैशाली लौट आये, जहा उन्होने अपना पाचवा वर्षावास किया। यहीपर फिर महाप्रजावती गौतमी ने आकर आनन्द की सहायता से भगवान् से भिक्षुणी बनने की अनुमति प्राप्त करली और भिक्षुणी-सघ का आरम्भ हुआ।

छठी वर्षा भगवान् ने मकुल पर्वत पर बिताई, जो सम्भवत सूनापरान्त (वर्तमान ठाणा और सूरत के आसपास का प्रदेश) जनपद का मकुलकाराम ही था। यह भी सम्भव है कि मकुल पर्वत विहार के हजारीबाग जिले का वर्तमान कलुहा पहाड हो। मकुलकाराम मे भगवान् स्थविर पूर्ण की प्रार्थना पर गये थे, परन्तु वर्षावास के केवल सात दिन ही वह वहा ठहरे थे। यहा स्थविर पूर्ण के गृहस्थ शिष्यो ने भगवान् के लिए एक 'गन्धकुटी' और 'चन्दनशाला' बनवाई थी। भगवान् मकुलकाराम को जाते हुए मार्ग मे सच्चबन्ध नामक पर्वत पर ठहरे थे और वहां से वापस आते हुए उन्होने नम्मदा (नर्मदा) नदी के तट पर विहार किया था। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद के छठे वर्ष मे ही श्रावस्ती में ऋद्धि-प्रातिहार्य का प्रदर्शन किया गया।

सातवा वर्षावास भगवान् ने त्रायस्त्रिश लोक के पाण्डुकम्बल-शिला नामक स्थान मे किया और आश्विन पूर्णिमा के दिन संकाश्य (वर्तमान सकिसा बसन्तपुर, जिला फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश) नामक स्थान पर उतरे। यहा से भगवान् श्रावस्ती चले गये, जहा वह अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम मे ठहरे। श्रावस्ती की चिचा माणविका ने सम्भवत इसी समय अपना निन्दित काण्ड रचा।

आठवी वर्षा भगवान् ने भर्गो के देश मे सुसुमार गिरि (चुनार) के समीप भेसकलावन मृगदाव मे बिताई, जहा वह वैशाली से गये थे। आदर्श वृद्ध दम्पती नकुलपिता और नकुलमाता, जो सुंसुमारगिरि के ही निवासी थे, यही भगवान् से मिले। एक अत्यन्त आश्चर्यजनक व्यवहार इन वृद्ध व्यक्तियो ने इस समय दिखाया। जैसे ही उन्होने भगवान्

को देखा, वे उनसे लिपट गये और कहने लगे, "यह हमारा पुत्र है !" और फिर वात्सल्य प्रेम से अभिभूत होकर भगवान् के चरणो मे गिर गये और रोकर कहने लगे, "पुत्र ! तुम इतने दिनो से हमे छोडकर कहा चले गए थे ? तुम इतने दिन तक कहा रहे ?" बुद्ध ने इनके इस व्यवहार की ओर घ्यान नही दिया और उन्हे धर्मोपदेश किया। भगवान् के सुमुगारगिरि मे निवास करने के समय नकुलपिता और नकुलमाता ने अनेक बार उन्हे भोजन के लिए निमन्त्रित किया और उन्हे बतलाया कि उन्होने अपने जीवन मे कभी एक दूसरे पर क्रोध नही किया है और उनकी इच्छा है कि वे इसी प्रकार परस्पर प्रेमपूर्वक दूसरे जीवन मे भी रहे। भगवान् ने इन दोनो उपासको को विश्वासको मे श्रेष्ठ बताया था।

नवी वर्षा भगवान् बुद्ध ने कौशाम्बी मे बिताई। इसी वर्ष वह कुरु देश मे भी चारिका के लिए गये और उसके कम्मासदम्म नामक प्रसिद्ध निगम मे मागन्दिय ब्राह्मण द्वारा अपनी कन्या मागन्दिया को उन्हे प्रदान करने का प्रस्ताव किया गया, जिसे भगवान् ने उसका तिरस्कार करते हुए अस्वीकार कर दिया।

बुद्धत्व-प्राप्ति के दसवे वर्ष मे कौशाम्बी के भिक्षु-सघ मे एक कलह उत्पन्न हो गया। किसी भिक्षु को उत्क्षेपण का दण्ड दिया गया था। उसीकी वैधता या अवैधता को लेकर यह झगडा हुआ, जिसके शमन का प्रयत्न भगवान् ने किया, परन्तु सफल न हुए। खिन्न होकर भगवान् एकान्तवास की इच्छा करते हुए कौशाम्बी के घोषिताराम से, जहा यह झगडा चल रहा था, चल दिये और क्रमश वालकलोणकार गाम और पाचीनवस (मिग) दाय मे चारिका करते हुए पारिलेय्यक वन मे पहुचे, जहा के रक्षित वन-खण्ड मे उन्होने दसवा वर्षावास किया। वालक-लोणकार गाम कौशाम्बी के पास एक गाव था। उससे कुछ दूर पाचीन-वस (मिग) दाय था, जिसे चेदि राष्ट्र मे बताया गया है। पारिले-य्यक वन और उसके रक्षित वन-खण्ड को भी सम्भवत चेदि राष्ट्र में ही होना चाहिए। पारिलेय्यक वन के रक्षित वन-खण्ड मे वर्षावास करने के बाद भगवान् श्रावस्ती चले गए।

ग्यारहवा वर्षावास भगवान् ने मगध देश के नाला नामक ब्राह्मण-ग्राम में किया, जो बोधि-वृक्ष के समीप एक गॉव था । नाला मे ग्यारहवाँ वर्षावास करने के समय के आस-पास ही भगवान् ने दक्षिणागिरि जनपद के एकनाला ब्राह्मण-ग्राम मे विहार किया और इसी समय सुत्त-निपात के कसि-भारद्वाज-सुत्त मे वर्णित कसि भारद्वाज से उनका सलाप हुआ । एकनाला ग्राम को नाला नामक ग्राम से भिन्न समझना कदाचित् अधिक ठीक होगा, क्योकि एकनाला ग्राम मगध के दक्षिणागिरि जनपद मे था, जो राजगृह के दक्षिण मे स्थित था, जबकि नाला नामक ग्राम बोधि-वृक्ष के समीप कही स्थित था ।

बारहवी वर्षा भगवान् ने वेरजा में बिताई । यह स्थान मथुरा और सोरेय्य (सोरो) के बीच मे था । अत इसे सम्भवत सूरसेन या दक्षिण पचाल जनपद मे होना चाहिए । अगुत्तर-निकाय के अनुसार भगवान् वेरजा मे श्रावस्ती से आये थे, और वेरजा मे वर्षावास करने के उपरान्त समतपासादिका के अनुसार क्रमश सोरेय्य (सोरो), सकस्स (सकिसा बसन्तपुर) और कण्णकुज्ज (कन्नौज) नामक स्थानो मे होते हुए पयाग पतिट्ठान (प्रयाग-प्रतिष्ठान—प्रयाग-स्थित गगा-यमुना का सगम) पहुचे थे, जहा उन्होने गगा को पार किया । आगे बढते हुए भगवान् वाराणसी पहुचे, जहा कुछ दिन निवास करने के पश्चात् वह वैशाली की महावन कूटागारशाला मे चले गए । चुल्लसुक जातक मे कहा गया है कि भगवान् वेरजा मे वासकर क्रमश चारिका करते हुए श्रावस्ती पहुचे । अत भगवान् उपर्युक्त मार्ग से वैशाली आने के पश्चात् श्रावस्ती गये, ऐसा मानना यहा ठीक होगा । भगवान् जब वेरजा मे वर्षावास कर रहे थे, तो वहा भयकर दुर्भिक्ष पड रहा था । उत्तरापथ के पाचसौ घोडो के सौदागर, जो वहा पडाव डाले हुए थे, पसो-पसो भर जौ भिक्षुओ को देते थे, जिन्हे ऊखल मे कूटकर भिक्षु खाते थे और उसी मे से एक पसों सिल पर पीस कर भगवान् को दे देते थे । वेरजा मे दुर्भिक्ष के कारण इस प्रकार भगवान् को तीन मास जौ खानी पडी थी । जिस वेरज या वेरजक नामक ब्राह्मण ने भगवान् को वेरंजा मे वर्षावास करने के लिए निमन्त्रित किया था, उसने सम्पन्न होते हुए भी लापरवाही की, परन्तु

तथागत ने फिर भी उसपर अनुकम्पा करते हुए वर्षावास की समाप्ति पर उसे अपने अन्यत्र चारिका के लिए जाने की इच्छा की सूचना दी और अन्तिम दिन उसके यहा भोजन भी किया। अगुत्तर-निकाय के वर्णनानुसार भगवान् बुद्ध मथुरा गये थे और वहा उन्होने उपदेश भी दिया था। इसी निकाय के वेरजक-ब्राह्मण-सुत्त मे हम भगवान् को मथुरा और वेरजा के बीच के रास्ते मे जाते देखते है, अत यह निश्चित है कि बुद्धत्व-प्राप्ति के बारहवे वर्ष मे ही भगवान् बुद्ध ने मथुरा की यात्रा की और उसके बाद लौटकर वे वेरजा ही आ गये, जहा से उन्होने अपनी श्रावस्ती तक की पूर्वोक्त यात्रा की।

बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद का तेरहवा वर्षावास भगवान् ने चेदि-राष्ट्र के चालिय या चालिक पर्वत पर किया, जो उसी राष्ट्र के पाचीन वस दाय मे था और जिसके पास ही जन्तुगाम और किमिकाला नदी थे। इस समय आयुष्मान् मेघिय भगवान् बुद्ध की सेवा मे थे।

चौदहवी वर्षा भगवान् ने श्रावस्ती मे बिताई। इस समय राहुल की अवस्था बीस वर्ष की थी। विनय-पिटक के नियम के अनुसार उनका उपसम्पदा-सस्कार इसी समय हुआ।

भगवान् का पन्द्रहवा वर्षावास कपिलवस्तु मे हुआ। इस समय उनके श्वसुर सुप्रबुद्ध ने भगवान् का घोर तिरस्कार किया। सुप्रबुद्ध समझता था कि गृहस्थ-जीवन त्यागकर गौतम ने उसकी पुत्री भद्रा कात्यायनी (राहुल-माता) के साथ अन्याय किया है। इसलिए वह भगवान् बुद्ध से क्रुद्ध था। शराब पीकर वह कपिलवस्तु के मार्ग मे बैठ गया और भगवान् बुद्ध को आगे नही बढने दिया। भगवान् को विवश होकर लौटना पडा। इसी वर्ष सुप्रबुद्ध की मृत्यु हो गई।

सोलहवा वर्षावास भगवान् ने पचाल देश के आलवी नामक नगर (वर्तमान अर्वल, जिला कानपुर या नवल या नेवल, जिला उन्नाव) मे किया, जहा वह एक रात आलवक यक्ष के निवास-स्थानपर और बाद मे मुख्यत अग्गालव चैत्य मे ठहरे। हस्तक आलवकके साथ भगवान् का सवाद, जो सुत्त-निपात के आलवक-सुत्त मे निहित है, इसी समय आलवी मे हुआ। विनय-पिटक से हमे सूचना मिलती है कि भगवान् श्रावस्ती से काशी

जनपद के निगम कीटागिरि मे आये थे और फिर वहाँ से क्रमश चारिका करते हुए आलवी नगर मे पहुचे थे। आलवी मे वर्षावास करने के पश्चात् भगवान् राजगृह चले गए।

बुद्धत्व-प्राप्ति के सत्रहवे वर्ष मे हम भगवान् बुद्ध को फिर श्रावस्ती लौटते देखते है। यही से वह एक गरीब और परेशान किसान पर अनुकम्पा करने के लिए दुबारा आलवी गये। भगवान् ने आलवी पहुँचकर निश्चित समय पर भोजन किया, परन्तु भोजनोपरान्त उपदेश उन्होने तब तक नही दिया, जबतक वह किसान वहा न आ गया। बात यह थी कि उस किसान का बैल उस दिन खो गया था, जिसे ढूढते-ढूढते वह परेशान रहा और शाम तक खाना भी नही मिला। भूखा ही वह किसान भगवान् के दर्शनार्थ सन्ध्या समय आया। भगवान् ने सर्वप्रथम उसे भोजन दिलवाया और जब उसका मन शान्त हो गया, तो भगवान् ने चार आर्य-सत्यो का उपदेश दिया, जिसे सुनते ही किसान को सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई। भगवान् इसके बाद राजगृह लौट आये, जहा उन्होने अपना सत्रहवा वर्षावास किया।

अठारहवा वर्षावास भी भगवान् ने अपने तेरहवे वर्षावास के समान चालिय पर्वत पर ही किया। यही से एक बार भगवान् फिर आलवी गये। इस बार वह एक गरीब जुलाहे की लडकी पर अनुकम्पार्थ वहां गये। बाद मे करघे के गिर जाने से इस गुणवती लडकी की मृत्यु हो गई और भगवान् ने उसके पिता को, जिसकी जीविका चलाने मे यह लडकी सहायता करती थी, सान्त्वना दी। अगुत्तर-निकाय के आलवक-सुत्त में हम भगवान् को अन्तराष्टक (माघ के अन्त के चार दिन और फाल्गुण के आदि के चार दिन) मे आलवी के समीप सिसपा-वन मे विहार करते देखते है। सम्भवत. यह इसी वर्ष की या इसमे एक वर्ष पूर्व की घटना हो सकती है।

उन्नीसवी वर्षा भी भगवान् ने चालिय पर्वत पर ही विताई।

बुद्धत्व-प्राप्ति के वाद का बीसवा वर्षावास भगवान् ने राजगृह मे किया। इसी वर्ष जब भगवान् राजगृह से श्रावस्ती की ओर जा रहे थे तो मार्ग मे उन्हे भयकर डाकू अगुलिमाल मिला, जिसे उन्होने दमित

किया। बुद्धत्व-प्राप्ति के बीसवे वर्ष मे ही आनन्द को भगवान् का स्थायी उपस्थाक (शरीर-सेवक) बनाया गया। इस समय तक अनेक भिक्षु समय-समय पर भगवान् की परिचर्या करते रहते थे। मेघिय भिक्षु का उल्लेख हम पहले कर चुके है। स्वागत (सागत), राध और नागसमाल भिक्षुओ ने भी कुछ-कुछ समय तक भगवान् की सेवा की थी। इनमे से कभी कोई भिक्षु शास्ता के सम्बन्ध मे लापरवाही भी कर देते थे। इसी-लिए इस समय भगवान् के परम अनुरक्त शिष्य आनन्द को उनका स्थायी उपस्थाक बनाया गया। इस समय से लेकर ठीक भगवान् के महापरि-निर्वाण अर्थात् करीब पच्चीस वर्ष से अधिक समय तक आनन्द ने छाया की भाति भगवान् को कभी नही छोडा और अत्यन्त तन्मयता और आत्मीयता के साथ उनकी सेवा की।

इक्कीसवे वर्षावास से लेकर पैतालीसवे वर्षावास तक अर्थात् पूरे पच्चीस वर्षावास भगवान् ने श्रावस्ती मे किये। इन पूरे पच्चीस वर्षो में भगवान् ने अपना प्रधान निवास-स्थान श्रावस्ती को बनाया, परन्तु बीच-बीच मे वह दूर तक चारिकाओ के लिये जाते थे और केवल वर्षा मे श्राव-स्ती लौटकर आ जाते थे। सयुत्त-निकाय के थपति-सुत्त मे स्पष्टत. कहा गया है कि वर्षावास के बाद भगवान् अक्सर श्रावस्ती से मल्लो, वज्जियो, काशियो और मगधो के देशो में जाते हैं और फिर वहाँ से लौटकर श्रावस्ती आ जाते है। सुत्त-निपात की अट्ठकथा (परमत्थजोतिका) का कहना है कि श्रावस्ती मे निवास करते समय यदि भगवान् दिन को मृगा-रमाता के प्रासाद (मिगारमातु पासाद) पूर्वाराम (पुब्बाराम) मे रहते थे तो रात को अनाथपिण्डिक के जेतवनाराम मे और यदि रात को मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम मे रहते थे तो दिन मे अनाथपिण्डिक के आराम जेतवन मे। श्रावस्ती मे पच्चीस वर्ष तक वर्षावास करते हुए भगवान् ने जिन चारो ओर फैले हुए अनेक स्थानो की यात्राए विभिन्न समयो पर की, उन्हे राज्य, जनपद आदि की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है:—

मगध राज्य में

(१) अन्धकविन्द (ग्राम), (२) अम्बलट्ठिका, (३) अम्बसण्ड,

(४) एकनाला, (५) कलन्दक निवाप, (६) खाणुमत ब्राह्मण-ग्राम, (७) जीवकम्बवन, (८) तपोदाराम, (९) दक्खिणागिरि, (१०) नालन्दा (११) पचशाल, (१२) मणिमालक चेतिय, (१३) मातुला, (१४) मोर निवाप परिब्राजकाराम, (१५) लट्ठिवन, (१६) सीतवन (१७) सूकरखता।

कोसल राज्य में

(१) इच्छानगल ब्राह्मण-ग्राम, (२) उक्कट्ठा, (३) उग्गनगर, (४) उज्जुञ्ञा, (५) ओपसाद, (६) चण्डलकप्प, (७) दण्डकप्प, (८) नगरक, (९) नगरविन्द, (१०) नलकपान, (११) पकधा (१२) मनसाकट (१३) रम्मकाराम (१४) वेनागपुर, (१५) सललागारक, (१६) साकेत, (१७) सालवतिका, (१८) साला, (१९) सेतव्या, (२०) वेलुद्वार।

वज्जि जनपद मे

(१) वैशाली, (२) अम्बपालिवन (वैशाली के समीप), (३) उक्काचेल (गगा नदी के किनारे), (४) कोटिगाम, (५) गोसिग सालवन, (६) चेतियगिरि (७) नादिका, (८) पाटिकाराम (वैशाली), (९) बेलुव गाम, (१०) हत्थिगाम, (११) तिन्दुकखाणु (परिब्राजकाराम)।

वंस (वत्स) राज्य में

(१) कौशाम्बी

पंचाल देश में

(१) अग्गालव चेतिय (आलवी नगर मे) (२) सिसपावन (आलवी मे), (३) किम्बिला।

चेदि-राष्ट्र में

(१) भद्दवती।

अंग-जनपद में

(१) अस्सपुर, (२) चम्पा, (३) भद्दिय।

अंगुत्तराप में

(१) आपण।

सुह्म (सुम्भ) जनपद मे

(१) सेदक, सेतक या देसक (२) कजगल।

कुरु-राष्ट्र में

(१) कम्मासदम्म, (२) थुल्लकोट्ठित।

सूरसेन या पंचाल-जनपद मे

(१) वेरजा।

विदेह-राष्ट्र में

(१) मिथिला, (२) विदेह (किसी विशेष स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है)।

काशी-जनपद में

(१) कीटागिरि।

शाक्य-जनपद में

(१) उलुम्प, (२) खोमदुस्स, (३) चातुम, (४) देवदह, (५) मेदलुम्प या मेदतलुम्प, (६) वेधञ्ञा, (७) सक्कर, (८) सामगाम, (९) सिलावती।,

कोलिय-जनपद में

(१) उत्तर (कस्बा), (२) कक्करपत्त, (३) कुण्डधान-वन, (४) सज्जनेल, (५) हलिद्दवसन।

मल्ल-राष्ट्र मे

(१) उरुवेलकप्प, (२) भोगनगर

कालामो के प्रदेश में

(१) केसपुत्त निगम।

उपर्युक्त सूची बयासी स्थानो की है। इनके अलावा तीन स्थान ऐसे है, जिनका राज्य या जनपदो के रूप मे वर्गीकरण नही किया जा सकता और दो ऐसे है, जिनके विषय मे हम पूर्णत निश्चय नही कर सकते कि किस प्रदेश मे थे। जिन स्थानो को हम राज्यो और जनपदो के अन्तर्गत नही रख सकते, उनमे अनोतत्त (अनवतप्त) दह, हिमवन्त पदेस और उत्तर-कुरु है। अनोतत्त दह को अक्सर मानसरोवर झील से मिलाया जाता है और हिमवन्त-प्रदेश तो हिमालय है ही। उत्तरकुरु से तात्पर्य

उत्तरकुरु-द्वीप से है, जो जम्बुद्वीप के उत्तर मे हिमालय से परे स्थित था। जिन दो स्थानो को हम निश्चित रूप से किसी विशेष जनपद या राज्य मे स्थित नही दिखा सकते, वे है उत्तरका और तोदेय्य। उत्तरका कस्वा थुलू लोगो के (जिन्हे पाठ-भेद से बुमु और खुलू भी कहा गया है) प्रदेश मे था। परन्तु ये थुलू बुमू, या खुलू लोग कौन थे, इसका अभी सम्यक् निर्णय नही हो सका है। सम्भवत मज्झिम-देस मे हम थुलू जनपद को रख सकते है, क्योकि यह एक सुविदित जनपद था, जहा भगवान् सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र के साथ एक बार गये थे। तोदेय्य एक गाव था, जिसके सम्बन्ध मे हम केवल इतना कह सकते है कि वह श्रावस्ती और वाराणसी के बीच मे स्थित था। भगवान् बुद्ध यहा आनन्द को साथ लेकर एक बार गये थे। भगवान् बुद्धके जीवन-काल मे चू कि काशी एक स्वतन्त्र राष्ट्र न होकर कोसल का ही एक अंग था, इसलिए हम तोदेय्य-गामको आसानी से कोसल-राज्य मे मान सकते है।

श्रावस्ती मे पैतालीसवा वर्षावास करने के बाद भगवान् राजगृह चले गए। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद उनके पार्थिव जीवन का यह छियालीसवा और अन्तिम वर्ष था, जिसकी प्रमुख घटनाओ का उल्लेख हमे दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त, महासुदस्सन-सुत्त और जनवसभ-सुत्त मे मिलता है। राजगृह के गृध्रकूट पर्वत से भगवान् ने वैशाली के लिए प्रस्थान किया, जहा होते हुए वह कुसिनारा गये। यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। प्रस्थान से पूर्व मगधराज अजातशत्रु का ब्राह्मण मत्री वर्षकार उनसे मिला और उसने भगवान् को बताया कि राजा अजातशत्रु वज्जियो पर अभियान करना चाहता है, जिसके उत्तर मे भगवान् ने सीधे वर्षकार से कुछ न कहकर पास मे उनपर पखा झलते हुए आनन्द से कहा कि जबतक वज्जी लोग सात अपरिहानिय धर्मो का, जिनका उपदेश उन्होने पहले एक बार वज्जियो को वैशाली के सारन्दद चैत्य मे दिया था, पालन करते रहेगे, तबतक उनकी कोई क्षति नही हो सकती। तदनन्तर भिक्षुओ के अनुरूप सात अपरिहानिय धर्मो का उपदेश भगवान् ने राजगृह की उपस्थान-शाला मे दिया और फिर भिक्षु-सघ के सहित अम्बलट्ठिका के लिए प्रस्थान किया, जहा उन्होने राजागारक (राजकी-

यभवन) नामक स्थान मे निवास किया। यहाँ से आगे चलकर भगवान् नालन्दा आये और प्रावारिक-आम्रवन (पावारिकम्ब-वन) मे ठहरे। नालन्दा से चलकर भगवान् पाटलिगाम पहुचे, जो गगा नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित था। पाटलिगाम के आवसथागार (विश्रामगृह) मे उन्होंने वहा के उपासको को सदाचार पर उपदेश दिया। इस समय सुनीध और वस्सकार नामक अजातशत्रु के ब्राह्मण-मंत्री वज्जियो को जीतने के लिए नगर को बसा रहे थे (नगर मापेन्ति वज्जीन पटि-बाहाय)। नगर की इस बसावट को देखकर भगवान् ने यह भविष्यवाणी की कि आगे चलकर यह गाव पाटलिपुत्र नाम से जम्बुद्वीप का प्रसिद्ध नगर होगा। दूसरे दिन भगवान् ने उपर्युक्त दो ब्राह्मण मन्त्रियो के यहा भोजन किया और उनके तथा अन्य अनेक नागरिको के द्वारा अनुगमित होते हुए गगा नदी को पार किया। जिस द्वार से भगवान् पाटलि-ग्राम से निकले, उसका नाम 'गौतम द्वार' और जिस घाट से उन्होंने गगा नदी को पार किया, उसका नाम 'गौतम तीर्थ' या 'गौतम घाट' रक्खा गया। गगा नदी को पारकर भगवान् वज्जियो के कोटिगाम नामक गाव मे पहुचे। वहा उन्होंने भिक्षुओ को चार आर्य-सत्यो का उपदेश दिया। आगे चलकर भगवान् वज्जि जनपद के ही नादिक या नादिका नामक नगर मे पहुचे, जहा के गिजकावसथ नामक आवास मे, जो ईटो का बना हुआ था, वह ठहरे। यहा से चलकर भगवान् वैशाली पहुचे, जहा वह अम्बपालि वन मे ठहरे और अम्बपालि के आतिथ्य को स्वीकार किया। इसके बाद भगवान् समीप के वेलुवगामक नामक ग्राम मे चले गए और उन्होंने भिक्षुओ से कहा "भिक्षुओ, तुम वैशाली के चारो ओर वर्षावास करो। मै यही बेलुवगामक मे वर्षावास करूगा।" "एथ तुम्हे भिक्खवे समन्ता वेसालि वस्स उपेथ। अह पन इधेव वेलुवगामके वस्स उपगच्छामी ति'। परन्तु इसी समय भगवान् को कडी बीमारी उत्पन्न हुई। भगवान् ने संकल्प-बल से उसे दवा दिया, क्योकि वह विना भिक्षु-सघ को अवलोकन किये महापरिनिर्वाण मे प्रवेश करना नही चाहते थे। वर्षावास के उपरान्त भगवान् एक दिन वैशाली मे भिक्षार्थ गये और ध्यान के लिए आनन्द के साथ चापाल चैत्य मे बैठे। यही उन्होंने

कहा कि वह तीन मास बाद महापरिनिर्वाण मे प्रवेश करेगे । इसका अर्थ यह है कि इस समय माघ की पूर्णिमा थी और प्रवारणा (वर्षा-वास की समाप्ति—आश्विन पूर्णिमा) को हुए चार मास बीत चुके थे। इसके बाद भगवान् वैशाली की महावन कूटागारशाला मे चले गए और वैशाली के आसपास विहरनेवाले सब भिक्षुओ को बुलवाकर उन्होने उनसे कहा कि जिस धर्म का उन्होने उन्हे उपदेश दिया है, उसका ज्ञानपूर्वक पालन उन्हे करना चाहिए, ताकि यह ब्रह्मचर्य (बुद्ध-धर्म) चिरकाल तक बहुत जनो के हित और सुख के लिए स्थित रहे। इसी समय भगवान् ने भिक्षुओ से कहा, "मेरी आयु परिपक्व हो चुकी है। मेरा जीवन थोडा है। मै तुम्हे छोडकर जाऊगा, मैने अपनी शरण बनाली है।" "परिपक्को वयो मय्ह परित्त मम जीवित। पहाय वो गमिस्सामि कत मे सरणमत्तनो"। दूसरे दिन वैशाली मे भिक्षाचर्या करने के बाद भगवान् ने मुडकर वैशाली की ओर देखा और आनन्द से कहा, "आनन्द ! यह तथागत का अन्तिम वैशाली-दर्शन होगा।" "इद पच्छिमक आनन्द तथागतस्स वेसालिदस्सन भविस्सति"। इसके बाद ही भगवान् भण्डगाम की ओर चल दिये। भण्डगाम पहुचकर भगवान् ने भिक्षुओ को शील, समाधि, प्रज्ञा और विमुक्ति सम्बन्धी उपदेश दिया और फिर क्रमश हत्थिगाम, अम्बगाम और जम्बुगाम होते हुए भगवान् भोगनगर पहुचे जहा वह आनन्द चेतिय मे ठहरे। तदनतर भगवान् आगे बढते हुए पावा पहुचे, जहा वह चुन्द सुनार के आम्रवन मे ठहरे और उसके यहा 'सूकरमद्दव' का भोजन किया। इसी समय भगवान् को कडी बीमारी उत्पन्न हुई और उसी अवस्था मे वह कुसिनारा की ओर चल पडे। रास्ते मे थककर भगवान् एक पेड के नीचे बैठ गये और आनन्द ने सघाटी चौपेती कर उनके नीचे बिछा दी। भगवान् को कडी प्यास लगी हुई थी, पास मे ही एक छोटी नदी (नदिका) बह रही थी, जिसमे से पानी लाने को भगवान् ने आनन्द से कहा। आनन्द वहा गये, परन्तु देखा कि अभी-अभी पाच सौ गाडियाँ वहा होकर गई है, अत पानी गदा है। भगवान् के पुन आग्रह पर आनन्द वहाँ गये और इस बार पानी को स्वच्छ पाया। तथागत ने जल पिया और इसी समय मल्ल-

पुत्र पुक्कुस व्यापारी, जो कुसिनारा से पावा की ओर पाच सौ माल से लदी गाडियो के सहित आ रहा था, उनसे मिला और भगवान् को एक इगुरवर्ण दुशाला भेट किया, जिसके एक भाग को भगवान् के आदेशानुसार उसने उन्हे उढा दिया और दूसरे भाग को आनन्द को। आगे चलकर भगवान् ककुत्था (कुकुत्था तथा ककुधा पाठान्तर) नामक नदी पर आये, जिसमे स्नान और पान कर (नंहात्वा च पिवित्वा च) भगवान् ने उसे पार किया और एक आम्रवन मे विश्राम किया। दीघ-निकाय की अट्ठकथा के अनुसार यह आम्रवन इस ककुत्था नदी के दूसरे किनारे पर ही स्थित था। "तस्सा येव नदिया तीरे अम्बवनांति"। इस आम्रवन मे विश्राम करते समय ही भगवान् ने आनन्द से कहा कि चुन्द सुनार को यह अफसोस नही करना चाहिए कि उसके यहा भोजन करके तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। उसे तो अपना सौभाग्य ही मानना चाहिये कि उसके यहाँ भगवान् ने अनुपाधि-शेष-निर्वाण-धातु मे प्रवेश किया, जो उनकी ज्ञान-प्राप्ति के समान ही एक मगलमय घटना है। इस आम्रवन से चलकर भगवान् ने एक और नदी को पार किया, जिसका नाम हिरण्यवती था। इस नदी को पार कर भगवान् कुसिनारा के समीप मल्लो के उपवत्तन नामक शालवन मे आये। दीघ-निकाय की अट्ठकथा का कहना है कि अत्यधिक निर्बलता के कारण भगवान् को पावा और कुसिनारा के बीच पच्चीस स्थानो पर बैठना पडा। "एतिस्म अन्तरे पचवीसतिया ठानेसु निसीदित्वा"। कुसिनारा के समीप स्थित मल्लो के उपवत्तन शालवन मे जुडवा शाल-वृक्षो के नीचे आनन्द ने भगवान् के लिए उत्तर की ओर सिरहाना करके चारपाई बिछा दी, जहाँ भिक्षुओ को सस्कारो की अनित्यता और अप्रमादपूर्वक जीवनोद्देश्य पूरा करने का उपदेश देते हुए, असमय मे फूले शाल-वृक्षो के फूलो तथा दिव्य मन्दार (मन्दारव) पुष्पो के पराग-रेणुओ से पूजित होते हुए, वैशाख पूर्णिमा की रात के अन्तिम याम मे, तथागत ने महापरिनिर्वाण मे प्रवेश किया।

: ५ :

बुद्ध के योगी रूप की एक झांकी

आचार्य शकर ने एक स्तोत्र मे भगवान् बुद्धको 'योगिना चक्रवर्ती' (योगियो के चक्रवर्ती) कहा है। बौद्ध धर्म को योग की एक शाखा मानने की प्रवृत्ति कई आधुनिक विद्वानो मे भी पाई जाती है । कुछ भी हो, यह निर्विवाद है कि भगवान् बुद्ध एक महान् योगी थे । उनके महापरिनिर्वाण के बाद लोग उनके सम्बन्ध मे प्राय कहते सुने जाते थे, "वह भगवान् ध्यानी थे, ध्यान के प्रशसक थे ।" अनेक बार हम उन्हे ध्यानमग्न अवस्थाओ मे देखते है । कभी वह पर्वत के ऊपर काली अधियारी रात मे खुले मे बैठकर ध्यान कर रहे है जबकि धीमी-धीमी रिमझिम वर्षा भी हो रही है । कभी खुले मे मही (गडक) नदी के तट पर एक बिना छाई हुई कुटिया मे ध्यानस्थ बैठे है जबकि आकाश मे बादल घिरे हुए है । कभी वह मध्याह्न की गर्मी मे गृध्रकूट पर्वत पर ध्यानस्थ बैठे है, कभी जगल मे ऊची-नीची जमीन पर भरी सर्दी मे पत्तो के आसन पर आसीन है । कभी किसी श्मशान-वन मे प्रत्यूष वेला मे ध्यान करते हुए टहल रहे है, तो कभी जब दर्शनार्थी उनसे मिलने विहार मे आते है तो आनन्द उन्हे सूचित करते है, "भगवान् इस समय- ध्यान मे है, यह समय उनसे मिलने का नही है ।" साराश यह कि शाक्यमुनि बुद्ध भगवान् के जीवन का जो चित्र हमे त्रिपिटक मे बहुलता से मिलता है, वह उनके ध्यानी रूप का ही है ।

एक लम्बे समय तक जनता के बीच रहते-रहते हम अक्सर भगवान् बुद्ध को कुछ काल के लिए एकान्त सेवन करते देखते है। कोसल राज्य के इच्छानङ्गल वनखड मे हम उन्हे एक बार भिक्षुओ से कहते देखते है, "भिक्षुओ ! मै तीन महीने एकान्तवास करना चाहता हू । एक भिक्षान्न लानेवाले को छोड मेरे पास दूसरा कोई न आने पावे ।" बुद्ध के जीवन

में ऐसे प्रसग कई बार और भी आये ।

भगवान् बुद्ध अपने उपदेश के अन्त मे अक्सर अपने शिष्यो से कहा करते थे, "भिक्षुओ ! यह सामने वृक्षो की छाया है, ये सूने घर है। भिक्षुओ ! ध्यान करो। पीछे मत पछताना। यही हमारी अनुशासना है।" भगवान् ने एक बार राहुल को उपदेश दिया। उपदेश के बाद राहुल ने सोचा, "कौन आज भगवान् का उपदेश सुनकर भिक्षा करने जाय ?" वही आसन लगाकर गर्दन सीधी की और स्मृति को उपस्थित कर ध्यान-मग्न हो गये। भूख-प्यास को छोडकर ध्यान के लिए ऐसी ही तत्परता बुद्ध के अनेक शिष्यो मे पाई जाती थी ।

भगवान् को जब सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति हुई तो उसके सप्ताहो बाद तक वह बिना कुछ खाये-पिये, हिले-डुले एक ही आसन से ध्यान के आनन्द मे बैठे रहे। सोचा, जिस दुर्लभ बोधि के लिए मैने यत्न किया था, वह मुझे मिल गई। अब क्यो न मै ध्यान सुख का अनुभव करते हुए निर्वाण मे प्रवेश करूँ ? कहा गया है कि तथागत के मन मे इस प्रकार के विचार का आना भी एक प्रलोभन था। वह मार का अन्तिम प्रयत्न था, जिसे उसने सम्यक् सम्बुद्ध को मार्ग-भ्रष्ट करने के लिए किया। परतु मार की पराजय हुई। केवल आत्म-विमुक्ति तथागत को सन्तुष्ट नही कर सकी। ध्यान-सुख उन्हे अपने मे नहीं बाध सका। दुःखार्त लोक की करुणा के लिए उन्होने ध्यान-सुख को छोड दिया। निर्वाण-प्रवेश कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया। तभी हमे बौद्ध धर्म मिला।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद तथागत ने अहर्निश कर्मरत होकर सद्धर्म का प्रचार किया। लगातार पैंतालीस वर्ष तक वह मध्य-देश के ग्रामो, निगमो नगरो और आरामो मे पैदल घूमते फिरे। अनवरत क्रियाशील था वह जीवन जिसमे रात को सिर्फ दो घटे सोने का अवकाश था। जिस अन्तिम रात को उन्होने शरीर छोडा, उस दिन भी सन्ध्याकाल से लेकर रात के अन्तिम पहर तक लगातार वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियो और जन-समूहो को उपदेश करते रहे। परन्तु तथागत का यह अनवरत कर्म-योग ध्यानाभ्यास से रहित नही था। नाना प्रकार के लोगो से मिलते हुए, पैदल चलते हुए, धर्मोपदेश करते हुए, भगवान् सदा समाधि मे स्थित

रहते है । कोसल देश के वेनागपुर नामक ग्राम मे विचरण करते हुए एक बार भगवान् ने वहा के वत्सगोत्र नामक ब्राह्मण से कहा था कि निरन्तर चारिका करते हुए भी वह ध्यान मे ही रहते है, अत उनका चक्र-मण 'ब्रह्मचक्रमण' होता है । कहा गया है कि तथागत कभी ध्यान से रिक्त नही रहते थे । इसकी गवाही त्रिपिटक के प्रत्येक पृष्ठ पर हमे मिलती है। एक-एक वाक्य, एक-एक अक्षर,जो तथागत के मुख से निकला है, उनकी सहज ध्यानावस्था का सूचक है । सम्पूर्ण त्रिपिटक बुद्ध का ध्यान ही है । इस साहित्य के अनुशीलन से बुद्ध के जिस ध्यानी स्वरूप का परि-चय हमे मिलता है, उससे दिव्य वस्तु ससार मे दूसरी नही है । इसी प्रभाव की अभिव्यक्ति पाषाण-शिल्पियो ने बुद्ध की मूर्तियो द्वारा की है, जो शान्ति की महान् शक्ति को प्रकट करने मे अद्वितीय है । प्रसिद्ध तत्वविद् काउण्ट कैसरलिङ्ग ने कहा है, "बुद्ध-प्रतिमा से अधिक उदात्त वस्तु इस ससार मे मै दूसरी नही जानता ।" भगवान् बुद्ध का स्मरण करते ही चित्त शान्ति मे डूब जाता है, इन्द्रिया शमित हो जाती है और आध्यात्मिक प्रमोद का अनुभव होने लगता है ।

भगवान् बुद्ध ध्यानी थे, परन्तु उनका ध्यान निष्क्रिय नही था । कल्पना-प्रसूत चिन्तन बौद्ध ध्यान-पद्धति के सर्वथा बहिर्भूत है । भगवान् बुद्ध क्या सोचते थे, यह जिज्ञासा हमारे लिए स्वाभाविक है । वैसे तो विश्व का कोई भी प्राचीन या अर्वाचीन साधक या विद्वान् तथागत के मन को पूरी तरह नही जान सका है । ब्रह्म की तरह ही तथागत अननुमेय है । परन्तु जहातक त्रिपिटक के पृष्ठ अभिव्यक्त करते है या कर सके है, हम तथागत के मन की अवस्थाओ के सम्बन्ध में कुछ जान सकते है । कहा गया है कि व्यष्टि और समष्टि के हित का चिन्तन करते ही तथागत ध्यान मे आसीन रहते है । दो प्रकार के सकल्प तथा-गत के मन मे बहुधा आया करते थे । प्राणियो के हित का सकल्प और एकान्त ध्यान (प्रविवेक) का सकल्प । ध्यान और लोकानुकम्पा उनके लिए एक थे । मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का वह ध्यान करते थे । दसो दिशाओ को मैत्री और करुणा के भावो से आप्ला-वित करते थे । इसे वह ब्रह्म-विहार कहते थे । सम्यक् दृष्टि और सम्यक

सकल्प का मानसिक चिन्तन ही बाद मे सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् जीविका के रूप मे अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। काया, वेदना, चित्त और मानसिक विषयो (धमो) को लेकर स्मृति-प्रस्थान का उपदेश भगवान् ने दिया है, जिसका अभ्यास मार्गारूढ होने के बाद साधक करते है। विदर्शना पर आधारित ध्यान-पद्धति का विश्लेषण हमे यहा अभीष्ट नही है। केवल यही कहना है कि जिन साधको ने शील की साधना पूरी कर ली है, उनके लिए ध्यान का अभ्यास आवश्यक माना गया है। ध्यान या समाधि मे ही सत्य के दर्शन होते है। बिना ध्यान के प्रज्ञा की प्राप्ति नही होती और जिसमे प्रज्ञा नही है, वह ध्यान नही कर सकता। अत ध्यान और प्रज्ञा अन्योन्याश्रित है। वे एक दूसरे के पूरक है। ध्यान का एक विस्तृत और व्यावहारिक क्रम हमे बुद्ध-वचनो मे मिलता है, जिसका अभ्यास युगो से साधक करते आये है। बौद्ध धर्म अपने साधनात्मक रूप मे चित्त का अभ्यास या ध्यान ही है।

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त करते हुए जिन ध्यान-वीथियो को प्राप्त किया था, उनका कुछ विवरण हमे प्राप्त है। पहले तथागत ने ध्यान की चार अवस्थाओ को क्रमिक रूप से प्राप्त किया। फिर उन्होने आकाशानन्त्यायतन नामक ध्यान को प्राप्त किया। उसके बाद उन्होने विज्ञानानन्त्यायतन और आकिंचन्यायतन नामक ध्यान-भूमियो को पार किया और नैवसंज्ञानासज्ञायतन नामक समाधि अवस्था को प्राप्त कर संज्ञावेदयितनिरोध को प्राप्त किया। इस अन्तिम चित्त-अवस्था मे सज्ञा (होश) और वेदना (अनुभूति) का सर्वथा निरोध हो जाता है, परन्तु जीव-तत्व विद्यमान रहता है। जब भगवान् समाधि की इस अवस्था मे थे, तो उनके शिष्य आनन्द ने अपने सब्रह्म-चारी अनिरुद्ध से पूछा, "भन्ते अनिरुद्ध! क्या तथागत परिनिर्वृत्त हो गये ?" अनिरुद्धने कहा, "आयुष्मन् आनन्द! भगवान् परिनिर्वृत्त नही हुए है, सज्ञावेदयितनिरोध को प्राप्त हुए है।" भगवान् की चेतना फिर लौटकर उलटे क्रम से नैवसज्ञानासज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्था मे आ गई। फिर क्रमशः आकिंचन्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन और

आकाशानन्त्यायतन नामक ध्यान के धरातलो पर होते हुए भगवान् ने ध्यान की चतुर्थ अवस्था से क्रमश प्रथम अवस्था तक आगमन किया। प्रथम अवस्था से भगवान् ने फिर ऊपर की ओर सक्रमण करते हुए द्वितीय अवस्था को प्राप्त किया, फिर तीसरी अवस्था को और उसके बाद चौथी अवस्था को। ध्यान की चतुर्थ अवस्था से उठने के साथ ही भगवान् ने परिनिर्वाण मे प्रवेश किया। इस प्रकार ध्यान के द्वारा भगवान् का परिनिर्वाण हुआ।

भगवान् बुद्ध कितने महान् योगी थे, इसके सम्बन्ध मे एक प्रसग का उल्लेख करना यहा आवश्यक होगा। एक बार भगवान् किसी ग्राम के समीप एक शाला मे निवास कर रहे थे। दिन का समय था। घटाए आकाश मे घिर रही थी और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। बादलो की कर्णभेदी गडगडाहट हुई और वही समीप बिजली गिरी जिससे पास काम करनेवाले दो किसान और चार बैल मर गये। गाव से आदमियो की एक बडी भीड वहा इकट्ठी हो गई। उस समय भगवान् शाला के बरामदे मे ध्यान मे टहल रहे थे। लोगो ने भगवान् को बताया की अभी हाल मे बिजली गिरने से दो भाई किसान और चार बैल मर गये है, जिन्हे देखने के लिए यह भीड इकट्ठी हुई है। फिर ग्रामीणो और भगवान् के बीच कुछ इस प्रकार सलाप चला -

"भन्ते! आप उस समय कहा थे ?"

"आयुष्मन्! यही था।"

"क्या भन्ते! आपने बादलो को घुमडते और बिजली को चमकते देखा ?"

"नही आयुष्मन्! नही देखा।"

"क्या भन्ते! बिजली की कडक का शब्द सुना ?"

"नही आयुष्मन्! शब्द भी नही सुना।"

"क्या भन्ते! सो गये थे ?"

"नही आयुष्मन्! सोया नही था।"

"क्या भन्ते! होश मे थे।"

"हा आयुष्मन्! होश मे था।"

"तो भन्ते ! आपने होश मे, जागते हुए, न गरजते बादलो को देखा, न बिजली की कडक का शब्द सुना, न उसके गिरने को देखा ?"

"हा आयुष्मन् !"

इतनी महान् एकाग्रता भगवान् बुद्ध की थी। ससार की दुर्धर्ष-से दुर्धर्ष घटना उनकी मानसिक शान्ति को भग नही कर सकती थी। ऐसे शान्त विहार से वह भगवान् विहरते थे।

: ६ :

बौद्ध धर्म के प्रति सही दृष्टि

भगवान् बुद्ध ने जिस ज्ञान का साक्षात्कार किया, उसका भारतीय धर्म-साधना मे क्या स्थान है, यह प्रश्न हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी ठीक अवगति प्राप्त कर लेने पर उस महत् अनुभव की ओर हमारी श्रद्धा बढेगी, जिसे तथागत ने प्राप्त किया था और जो ज्ञान के उस रूप से आगे का विकास है, जिसकी अभिव्यक्ति वैदिक वाड्मय मे हुई है। अधिक विस्तृत विवेचन न कर यहा केवल दो स्फुट विचार रख देना उपयुक्त होगा।

वैदिक ऋषि ने किसी अज्ञात परा शक्ति से प्रार्थना की थी -

"मुझे असत् से सत् की ओर ले चल।

"मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल।

"मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चल।"

कितने उदात्त है ऋषि के ये शब्द !

"असतो मा सद्गमय।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय।

"मृत्योर्माऽमृत गमय।"

वैदिक ऋषि की यह प्रार्थना सब काल के लिए मानवता की सर्व-श्रेष्ठ प्रार्थना है। वैदिक युग की साधना और उसकी आशा-आकाक्षाओं की पूरी अभिव्यक्ति यहा हुई है। अब इस प्रार्थना के साथ हम उन उद्-

गारो को मिलाये, जिन्हे अभिसम्बोधि प्राप्त करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रथम बार प्रकट किया था।

"अविद्या (असत्) नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई।
"अन्धकार नष्ट हुआ, प्रकाश उत्पन्न हुआ।
"अमृत के द्वार खोल दिये गए है।"
अहो! गम्भीर बुद्ध की वाणी!
"अविज्जा विहता, विज्जा उप्पन्ना।
"तमो विहतो, आलोको उप्पन्नो।
"अपारुता अमतस्स द्वारा।"

भगवान् बुद्ध ने अक्षरश वही प्राप्त किया है, जिसकी प्रार्थना वैदिक ऋषि ने की थी। आकस्मिक होते हुए भी शब्दो और भावनाओ के क्रम तक में कितनी भारी समानता है, यह दोनो आध्यात्मिक अनुभवो की सच्चाई की द्योतक है। सम्पूर्ण औपनैषदिक साहित्य को छान डालने पर भी एक भी ऋषि का ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसने अपने अनुभव के आधार पर इतनी परिपूर्णता के साथ घोषित किया हो कि उसकी अविद्या नष्ट हो चुकी है, अन्धकार विदीर्ण हो गया है और उसने अमृत को पा लिया है। कुछ ऋषियो ने अमृत-प्राप्ति की कुछ झाँकी अवश्य दी है, परन्तु वैदिक ऋषि की प्रार्थना के तीनो अवयवो की परिपूर्ण प्राप्ति का दावा किसी ऋषि का वैदिक साहित्य मे हो, ऐसा नही कहा जा सकता। वैदिक युग के लिए यह एक प्रार्थना है, आकाक्षा है। उसकी प्राप्ति तथागत की बोधि के रूप मे हुई है। भारतीय आध्यात्मिक विकास का यह एक ऐतिहासिक क्रम है। प्रार्थना और प्राप्ति का यह क्रम-विकास ध्यान का एक सुन्दर विषय है। अतः पुनरुक्ति दोष को स्वीकार करके भी इसे पुनः रखना होगा—

प्रार्थना	प्राप्ति
मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो।	असत् (अविद्या) नष्ट हुआ, सत् (विद्या) उत्पन्न हुआ।

मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो ।	अन्धकार नष्ट हुआ, प्रकाश उत्पन्न हुआ ।
मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो ।	अमृत के द्वार खोल दिए गये है ।

इस प्रकार वैदिक और बौद्ध धर्म का सम्बन्ध वस्तुत प्रार्थना और उस प्रार्थना की प्राप्ति का सम्बन्ध है । वैदिक आकाक्षा ने क्रियात्मक रूप उस ज्ञान मे प्राप्त किया है, जिसे मनुष्य-श्रेष्ठ ने साक्षात्कार किया । 'य सच्छिकासि मनुस्ससेट्ठो' । इसीलिए बुद्ध का ज्ञान नवीन भी है और पुरातन भी । वह नवीन है, क्योकि अनुभव के रूप मे उनसे पहले अन्य किसीने उसे प्राप्त नही किया । वह पुरातन है, क्योकि जिसे उन्होने प्राप्त किया उसकी कल्पना साधको को पहले से भी थी और उसके मार्ग पर वे काफी अग्रसर भी हुए थे । वस्तुत बुद्ध का अनुभव वैदिक ज्ञान की सगति है, उसका पूरक है, उसका निश्चयात्मक विकास है ।

कहा गया है कि बुद्धत्व प्राप्त कर लेने पर भगवान् बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नही हुई । इसपर ब्रह्मा को चिन्ता हुई । उन्होने जाकर तथागत से प्रार्थना की, "हे शोकरहित ! शोक-मग्न, जन्म-जरा से पीडित जनता की ओर देखो । हे सुमेध ! धर्म रूपी प्रासाद पर चढकर इस दु खी जनता को देखो । उठो वीर ! हे सग्रामजित् ! हे सार्थवाह ! उऋण-ऋण ! जग मे विचरो ! धर्म प्रचार करो ।" ब्रह्मा वैदिक युग के सर्वमान्य देवता है । ब्राह्मण-सस्कृति के वह प्रतीक है । ब्रह्मा का बुद्ध को उपदेश करने के लिए आमन्त्रित करना वस्तुतः सम्पूर्ण वैदिक धर्म का वौद्ध धर्म को आमन्त्रित करना है । ब्रह्मा की प्रार्थना सम्पूर्ण वैदिक धर्म की प्रार्थना है । वैदिक धर्म की श्रेष्ठतम साधना की माग है कि बुद्ध जैसे महात्मा आविर्भूत हो और वे उपदेश करे । बुद्ध और बौद्ध धर्म को देखने की सही दृष्टि यही है ।

: ७ :

बौद्ध और वेदान्त दर्शन : एक समन्वय

भगवान् बुद्ध ने एक जगह कहा है, "भिक्षुओ ! बिजली के कडकने पर दो प्राणी नही चौक पडते। कौन से दो ? एक मृगराज सिह और दूसरा क्षीणमल अर्हत्।" मृगराज सिंह क्यो नही चौक पडता ? क्योकि उसका 'अह' इतना प्रबल होता है कि उसे अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी ही दृष्टि नही आता, जिससे वह भय की आशंका करे। क्षीणास्रव अर्हत् क्यो नही चौक पडता ? क्योकि जिसे भय उत्पन्न होता है, वह 'अह' ही उसका पूर्णत निरुद्ध किया हुआ है। मृगराज सिह और निष्पाप अर्हत्, यही दो प्राणी ससार मे पूर्णत निर्भय है।

मृगराज सिह को ही वेदान्त कहना चाहिए। यह आत्म-प्रसार का धर्म है। अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत चेतना को इतना प्रसारधर्मी बनाना कि उससे सारा जडचेतनात्मक जगत् ढंक जाय, यही वेदान्त है। आत्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान का अर्थ है अपने मे सारे जगत् और सारे जगत् मे अपनेको देखना। यहा न भय का अवकाश है और न शोक, द्वेष, मोह का। कारण, यहा अपने से अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता ही नही है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यहा सब सधती हैं।

निष्पाप अर्हत्, यह बौद्ध साधना का निर्वचन है। अर्हत् देखता है कि इस भौतिक और मानसिक जगत् मे सब प्रवाहशील है। जो प्रवाह-शील है, वह नित्य नही है और जो अनित्य है, वह सुख नही है। अत. चाहे रूप हो, चाहे वेदना, चाहे संज्ञा, चाहे सस्कार, चाहे विज्ञान, चाहे अन्दरूनी, चाहे बाहरी, चाहे अपना, चाहे पराया—सभी अनित्य है, दु ख है। जो अनित्य है, वह दु ख है। क्या उसके विषय मे यह कहना ठीक होगा कि यह मेरा 'आत्मा' (अत्ता) है ? नही। इसलिए जो

भी रूप है, वेदना है, सज्ञा है, सस्कार है, विज्ञान है, वह सब 'न मै हू,' 'न वह मेरा है', 'न वह मेरा आत्मा है' । तथागत का साक्षात्कार किया हुआ अनात्म (अनत्ता) तत्त्व यही है ।

वेदान्त जब यह कहता है—"मै देह नही," "मै इन्द्रिय नही", "मै अहकार नही", "मै प्राणवर्ग नही," "मै बुद्धि नही," तो वह दूसरे शब्दो मे केवल अनात्म तत्त्व का ही चिन्तन करता है । और दूसरी ओर मैत्रीपूर्ण चित्त से दिशाओ को अप्लावित करता हुआ भिक्षु ध्यान की प्रथम अवस्था मे ही "नानात्व सज्ञा के प्रहाण" को कर चुकता है । बिना अद्वैत के शून्य नही है और बिना शून्य के अद्वैत की निष्ठा अधूरी है । और फिर यह भी सोचना चाहिए कि अनात्मवादी (बुद्ध) के समान आत्म-विस्तार भी इतिहास में किस आत्मज्ञानी का हुआ है? बौद्ध और वेदान्त दर्शनो के समन्वय का मार्ग इसी दिशा से होकर जाता है ।

: ८ :

बौद्ध धर्म में श्रद्धा का स्थान

बौद्धधर्म बुद्धि-प्रधान धर्म है । उसे 'एहिपस्सिक' धर्म कहा गया है, जिसका अर्थ है 'आओ और देख लो' । विश्वास को यहां कोई स्थान नही है । वैज्ञानिक प्रक्रिया के समान खोज और परीक्षण उसके साधन है और विश्लेषण उसका मार्ग है । सत्य उसके लिए एक खोज करने की वस्तु है, पहले से तैयार की हुई देने-लेने के लिए नही । इसलिए मनुष्य को बाधने का प्रयत्न यहा बिल्कुल नही किया गया है । बौद्ध धर्म की यह एक ऐसी विशेषता है, जो उसे ससार के अन्य सब धर्मों से अलग कर देती है ।

बौद्धधर्म के बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण उसे आधुनिक युग मे काफी लोकप्रियता मिली है । वैज्ञानिक मन को सतोष देने में जितना यह धर्म समर्थ हुआ है, उतना अन्य कोई नही । यूरोप मे, उन्नीसवी

शताब्दी में, जब धर्म और विज्ञान का सघर्ष चल रहा था, यूरोपीय विचारको का इस धर्म से परिचय हुआ। यहा उन्हे एक ऐसा अद्भुत धर्म मिला, जिसकी न केवल मान्यताए विज्ञान से सगत थी, बल्कि जिसके सोचने का पूरा तरीका वैज्ञानिक था। इस धर्म से परिचय पा कर यूरोप के विचारको को कितना आश्वासन मिला है, यह इसीसे जाना जा सकता है कि उनमे से एक (सर फ्रासिस यगहस्बेण्ड) ने कहा है कि बुद्ध-उपदेशो को समझने का वास्तविक समय अब पच्चीस सौ वर्ष बाद आया है, और एक दूसरे (बरट्रेड रसल) ने अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है कि, "यदि मै किसी धर्म को अपनाऊगा तो वह बौद्धधर्म ही होगा।" बौद्धधर्म के निरन्तर बढते हुए प्रभाव के ये शब्द सकेत भर है। जिस धर्म के प्रभाव मे आधे से अधिक मानव-समाज पहले भी आ चुका है उसे, या यदि अधिक ठीक कहे तो उसके मार्ग को (क्योकि मार्ग से अतिरिक्त बौद्ध धर्म और कुछ नही है), ज्ञान और मानवता के विकास के लिए आगे चलकर यदि पूरा विश्व अपना ले, तो यह कोई आश्चर्य की बात न होगी। जैसा कि एक जापानी सम्राट् ने कहा था—ससार मे कोई ऐसा प्राणी नही है, जो बुद्ध-धर्म से प्रभावित न हो, यदि यह उसके सामने रक्खा जाय।

इसे एक युग-धर्म की ही बात समझना चाहिए कि बौद्ध धर्म के विशेषत बुद्धिवाद ने इस युग मे लोगो को अपनी ओर आकृष्ट किया है। बौद्ध धर्म के ऐसे अनेक गुण है, जो भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगो को भिन्न-भिन्न युगो मे आकृष्ट करते रहेगे। यहा केवल एक सूक्ष्म भय यह है कि कही इनमे से किसी एक गुण का अतिवाद न कर बैठे, जिससे हम तथागत के मन्तव्य से दूर जा पडे। बुद्ध-मन्तव्य इतना परिपूर्ण है जितना सत्य। दूसरे शब्दो मे हम इसे यो कह सकते है कि मध्यम-मार्ग से तथागत ने धर्म का उपदेश दिया है। 'मज्झेन तथागतो धम्म देसेति'। यह बात हमे बुद्ध-धर्म के प्रकृत रूप को समझने मे सदा याद रखनी चाहिए।

कोरा बुद्धिवाद मनुष्य को प्रकृतिवाद या भौतिकवाद मे ले जायगा, जिस प्रकार कोरा श्रद्धावाद अन्ध-विश्वास मे। बौद्ध धर्म दैवी विश्वास

पर तो आधारित है ही नही, वह भौतिकवाद से भी उतना ही दूर है। जहातक वह प्रज्ञा के विकास पर जोर देता है, बौद्ध धर्म एक विज्ञान है। परन्तु जहा वह प्रज्ञा की व्याख्या 'कुशलचित्त-सयुक्त ज्ञान' के रूप मे करता है, वह विज्ञान से आगे बढकर नैतिक दर्शन बन जाता है और विज्ञान का पथ-प्रदर्शन करता है। बुद्धिवादी व्याख्या पर खरा उतरते हुए भी वह बौद्धिक नही है। इसलिए उसमे श्रद्धा की महिमा अपने ढंग से सुरक्षित है, यह हम उसके स्वरूप के विवेचन से अभी देखेंगे।

भगवान् बुद्ध ने जिस ज्ञान को प्राप्त किया, उसे उन्होने 'अतर्कावचर' बताया है। 'अतर्कावचर' का अर्थ है तर्क से अप्राप्य। सत्य या बोधि की प्राप्ति बौद्धिक ऊहापोह से नही हो सकती। जैसा कठोपनिषद् के ऋषि ने कहा था 'यह मति तर्क से प्राप्त नही की जा सकती' (नैषा तर्केण मतिरापनेया)। यही अर्थ 'अतर्कावचर' शब्द मे निहित है। बौद्धिक ज्ञान से अतीत इस गम्भीर सत्य को प्राप्त करने के लिए सर्व प्रथम किस बात की आवश्यकता होगी, इसे बताते हुए ज्ञान-प्राप्ति के ठीक बाद ही भगवान् ने कहा था, "अमृत के द्वार खुल गये है। जिनके कान है, वे श्रद्धा की ओर मुडे।" बुद्ध-धर्म चित्त-शुद्धि के लिए था और चित्त-शुद्धि का लक्ष्य था निर्वाण। निर्वाण या पूर्ण विशुद्धि के लिए तथागत ने पुरुषार्थ को ही प्रधान साधन बताया था। यह सार्थक है कि बौद्ध परिभाषा मे 'प्रधान' शब्द का अर्थ ही पुरुषार्थ है। वीर्य और अप्रमाद इसीके दूसरे नाम है। वीर्य और अप्रमाद के रूप मे देखना ही बौद्ध साधना को उसके वास्तविक रूप मे देखना है। परन्तु वीर्यारम्भ के लिए प्रेरणा या शक्ति कहा से मिलेगी? बुद्धि से तो नही मिल सकती, क्योंकि क्रिया मे प्रवृत्त कराने की उसमे शक्ति नही है, उसका सम्बन्ध हृदय से नही है। इसका अक्षय स्रोत तो श्रद्धा ही है, जो हृदय से उत्पन्न होती है और जिसे भगवान् ने एक 'बल' माना है, एक 'इंद्रिय' या जीवनी-शक्ति कहा है। बौद्ध धर्म मे पाच इंद्रिया (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा) और सात बल (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, ह्री और अपत्राप्य या पाप-भय) माने गए है। उनमे श्रद्धा को प्रथम

स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि उत्पन्न होते ही श्रद्धा चित्त-मलो को दूर कर देती है। जैमा कहा भी गया है, "सद्धा उप्पज्जमाना नीवरणे विक्खम्भेति।"

श्रद्धा चित्त मे उत्पन्न हुई है, इसका लक्षण ही यह है कि सारा मन प्रसन्नता से भर जाता है, मनुष्य की चेतना एकदम शान्ति और आध्यात्मिक 'प्रसाद' मे डूब जाती है। श्रद्धा का लक्षण करते हुए 'मिलिन्द-प्रश्न' मे कहा गया है "सम्पसादनलक्खणा सद्धा" अर्थात् श्रद्धा का लक्षण है सप्रसाद, चित्त का प्रसन्न होना, शान्त होना, उत्साह से भर जाना। 'मिलिन्द-प्रश्न' ईसवी सन् के करीब की रचना है। बौद्ध जीवन-साधना ने हमे जो कुछ दिया है, उससे हमे यह आश्चर्य नही करना चाहिए कि योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने, जिनका समय पाचवी शताब्दी ईसवी माना गया है, हू-ब-हू बौद्ध परिभाषा को स्वीकार करते हुए कहा है 'श्रद्धा चेतस. सप्रसाद' (व्यासभाष्य १।२०)। क्या श्रद्धा की इस सर्वोत्तम परिभाषा के लिए भी हम बौद्ध साधना के ऋणी है ? न केवल व्यास-भाष्य, वल्कि योगसूत्रो (तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) पर भी बौद्ध प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है, यह इसी प्रसग मे इससे जाना जा सकता है कि असप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए उन्होने बौद्ध साधना की पाच इद्रियो का उल्लेख किया है, यद्यपि 'इद्रिय' शब्द का निर्देश उन्होने नही किया है। "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योगसूत्र १।२०)। इस सूत्र की व्यास-भाष्य में जो व्याख्या की गई है, वह बौद्ध-मन्तव्य और शब्दावली का बिल्कुल अनुसरण करती है, इसे विस्तार से दिखाने की यहा आवश्यकता नही है। हमारा अभिप्राय यहा केवल यह दिखाना है कि श्रद्धा चित्त की वह प्रसाद-मयी अवस्था है, जो एक ओर साधक को उन्नत आध्यात्मिक अवस्थाओ को अनुभव करने के लिए उत्साहित करती है और दूसरी ओर सशयादि चित्त-मलो को दूर कर चित्त को शान्ति प्रदान करती है। श्रद्धा से ही वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्यारम्भ करनेवाले की स्मृति ठहरती है। जिसकी स्मृति ठहरी हुई है, उसीका चित्त समाधिमग्न होता है और चित्त की समाधि से ही प्रज्ञा मिलती है, जिससे साधक यथाभूत ज्ञान-दर्शन को प्राप्त करता है। इस साधना-

क्रम का आरम्भ प्रसाद-रूप श्रद्धा से ही होता है। इसकी सच्चाई की गवाही गीता मे भी सक्षेपत. इन शब्दो मे दी गई है। "प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते"। सशय या अश्रद्धा को जिस प्रकार गीता मे विघ्न माना गया है और अज्ञ और अश्रद्धालु के विनाश की बात कही गई है, उसी प्रकार सशय या विचिकित्सा (विचिकिच्छा) को बौद्ध साधना मे चित्त का एक काटा बताया गया है। "जो भिक्षु शास्ता के प्रति सदेह करता है, उनके प्रति श्रद्धा नही रखता, प्रसन्न नही होता, उसका चित्त सयम, योग और प्रधान (पुरुषार्थ) की ओर नही झुकता।" इसलिए जहा कही पालि-त्रिपिटक मे साधक का वर्णन आया है, वहा सबसे पहले यही बात कही गई है—'यहा भिक्षु श्रद्धा से युक्त होता है' (इध भिक्खु सद्धाय समन्नागतो होति) आदि। इसलिए हम कह सकते है कि बौद्ध साधना का प्रस्थान-बिन्दु बुद्धि नही, बल्कि श्रद्धा है और जैसा वृहदारण्यक उपनिषद् के ऋषि ने कहा है, "श्रद्धा की प्रतिष्ठा हृदय मे है"—"हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता"। दानादि के प्रसग मे जिस प्रकार श्रद्धा की प्रशसा वैदिक ग्रथो मे की गई है, उसी प्रकार बौद्धसाहित्य मे श्रद्धा को सम्पूर्ण पुण्यकारी वस्तुओ का आधार बताया गया है। सुत्त-निपात के कसि भारद्वाज-सुत्त मे भगवान् बुद्ध अमृत की खेती करते दिखाये गए है। उसका बीज वहा श्रद्धा को ही बताया गया है। श्रद्धा की बार-बार अभ्यास की गई अवस्था को ही आचार्य बुद्धघोष ने भक्ति कहा है (पुनप्पुनं भजनवसेन सद्धा वा भत्ति) और भक्ति अनिवार्यत प्रेम (पेम) से सम्बन्धित है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि बौद्ध साधना श्रद्धा से प्रेमरूपा भक्ति की ओर न मुड कर प्रज्ञा रूपिणी भावना की ओर बढ गई है, जो विवेक और विरति से अधिक सम्बन्धित है। जैसा गीता के उपदेश मे अन्तर्हित है, योग की तो दोनो जगह ही आवश्यकता है और 'भावना' से भी शान्ति और सुख की सिद्धि होती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुत सुखम्॥

इस प्रकार हम देखते है कि बौद्ध साधना मे श्रद्धा और बुद्धि का

समन्वय है। उसकी श्रद्धा 'प्रज्ञान्वया' है। प्रज्ञा से युक्त होने पर ही श्रद्धा मुक्ति का साधन बनती है। साधना का आरम्भ तो श्रद्धा से ही होता है, परन्तु अन्त मे उसे प्रज्ञा से बेधना पडता है। बीच के विकास की कडिया भी बताई गई है, जिन्हे मज्झिम-निकाय के चकि-सुत्तन्त से भली प्रकार समझा जा सकता है।

श्रद्धा के द्वारा विमुक्त होने की बात भगवान् ने अनेक बार कही है। "श्रद्धा के द्वारा मनुष्य भव-बाढ को तरता है" (सद्धाय तरती ओघं)। ऐसा उन्होने अनेक बार आश्वासन दिया है। पिगिय नामक ब्राह्मण विद्यार्थी को उन्होने अनेक उदाहरण देते हुए श्रद्धा द्वारा मुक्त हो जाने के लिए उत्साहित किया था। भगवान् ने उससे कहा था, "जिस प्रकार वक्कलि, भद्रायुध और आलवि गोतम श्रद्धा द्वारा मुक्त हुए, उसी प्रकार पिगिय! तुम भी श्रद्धा को उपस्थित करो। तुम मृत्यु को पार कर जाओगे।" इस प्रकार श्रद्धा द्वारा भगवान् ने विमुक्ति को सिखाया है।

तथागत की 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा,' इस अस्त-व्यस्त जीव-लोक के लिए, जिसके बौद्धिक और भावात्मक सन्तुलन खोये हुए है, सचमुच एक वरदान की वस्तु है।

: ६ :

बुद्ध-शासन में निब्बाण

जहा तक भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यो का सबध है, निब्बाण (निर्वाण) आध्यात्मिक अनुभव की एक अवस्था का नाम है। कुछ विशिष्ट अर्थो मे उसे चित्त की अवस्था-विशेष भी कहा जा सकता है। बौद्धिक ऊहापोह का तो उसे स्थविरवादी तत्व-दर्शन मे कभी विषय बनाया नही गया, जैसा प्राय: बौद्ध दर्शन के उत्तरकालीन विकास में हमे दिखाई पडता है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण का उपदेश दिया। परन्तु

निर्वृत्त होकर वह स्वय यहा, इस जीवन मे, रहे। यही उनका सर्वोत्तम उपदेश था। निर्वाण का आधार जीवन मे है। वह एक वास्तविकता है, दिट्ठ धम्म (दृष्ट धर्म) है, देखी हुई वस्तु है। जीवन की विशुद्धि ही विमुक्ति के रूप मे साधक के लिए प्रकटित होती है। यही निर्वाण है। विशुद्धि और निर्वाण दोनो एक है। आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है "विसुद्धीति सब्बमलविरहित अच्चन्तपरिसुद्ध निब्बान वेदितब्ब।" चूल-वियूह-सुत्त (सुत्त-निपात) मे भी निर्वाण को अतिम शुद्धि कहा गया है। यह अन्तिम शुद्धि-रूपी निर्वाण केवल बुद्धि के चिन्तन या विमर्श के द्वारा प्राप्य नही। उसे जीवन मे साक्षात्कार करना पडेगा, जिसके लिए आध्यात्मिक प्रयास की आवश्यकता है।

निब्बाण वस्तुत अहभाव को विसर्जित करनेवाले पुरुष की परम सुख-अवस्था का नाम ही है। वह ब्रह्मचर्य का अतिम फल है। इस फल मे प्रतिष्ठित एक साधक भिक्षु को देखकर भगवान् बुद्ध ने उल्लास-पूर्वक कहा था, "ऊपर, नीचे, सभी ओर से मुक्त हो गया! 'यह मे हू' इस भ्रम मे वह नही पडता। इस प्रकार मुक्त हो भव-सागर से तर जाता है।" एक दूसरे मुक्त पुरुष को देखकर भगवान् ने उद्गार प्रकट किया था, "निर्दोष, शुद्ध, श्वेत आसनवाला एक ही धुरावाला रथ आ रहा है। इस निष्पाप को आते हुए देखो, जिसका स्रोत वन्द हो गया है, जो बन्धन से छूट गया है।" निब्बाण दु ख-विमुक्ति की अवस्था तो है ही, उसे निश्चिततम अर्थो में परम सुख की अवस्था भी कहा गया है। "निब्बाण परम सुख।" निर्वाण वह 'अ-मानुषी रति' है, जो धर्म का सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होती है। वह निर्विषय मन का आनन्द है। ऐसा सुख है, जो निरामिष है, आलम्बन की अपेक्षा से रहित है, अतीन्द्रिय है। इसी सुख का अनुभव करते हुए बिना हिले-डुले, खाये-पिये, तथागत कई सप्ताहो तक एक आसन से समाधि-अवस्था मे बैठे रहे थे। यही आनन्द था, जिसके कारण वह अपने को राजा मागध श्रेणिक बिम्बिसार से भी अधिक सुखी मानते थे। उनके शिष्यो मे से भी अनेक ने इस रस को चक्खा था। "अहो सुख! अहो सुख!" कहने वाले भद्दिय स्थविर ने इसी अवस्था का साक्षात्कार किया था।

"अहो ! मै कितनी सुखी हू । मै कितने सुख से ध्यान करती हू !" यह कहनेवाली भिक्षुणी ने भी इस अमृत को पाया था, यह नि सदेह है । "जान लिया ! जान लिया !" का उद्गार करनेवाले ज्ञानी कौण्डिन्य ने इसी परम सुख की अनुभूति की थी । परन्तु निर्वाण-सबधी कुछ अत्यन्त सप्रहर्पक उद्गार तो भगवान् बुद्ध की औरस कन्याओ स्वरूप कुछ साधिकाओ ने ही किये है, जिन्होने इस अनुभव की विरासत को अपने शास्ता से पाया था। 'थेरी-गाथा' मे सात भिक्षुणियो ने अलग-अलग अपनी निर्वाण-प्राप्ति की सूचना देते हुए उल्लासपूर्वक कहा है, "मै निर्वाण प्राप्त कर परम शान्त हुई हू । निवृ त्त होकर मै शीतलता स्वरूप हो गई हू ।" "सीतिभूतम्हि निब्बुता" । परम शान्ति ही इन भिक्षुणियो के लिए निर्वाण है । भिक्षुणी वड्ढमाता ने निर्वाण-सुख का अनुभव करते हुए कहा था, "अफुसिं सन्तिमुत्तम " अर्थात् "मैने उत्तम शाति मे प्रवेश किया है ।" सुत्त-निपात के मेत्त-सुत्त मे भी निर्वाण के लिए 'शान्त पद' (सन्त पद) शब्द का व्यवहार किया गया है ।

भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार महासमुद्र का केवल एक रस होता है लवण-रस, उसी प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म-विनय का भी केवल एक रस है और वह है विमुक्ति । विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का चरम उद्देश्य है । विमुक्ति ही निर्वाण है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने स्वय कहा है, "राध ! विमुक्ति का अर्थ है निर्वाण ।" एक अन्य जगह भगवान् ने निर्वाण को विमुक्ति का आधान भी वताया है। "भिक्षुओ ! विमुक्ति का आधान निर्वाण है ।" पुनरुक्ति करते हुए भगवान् ने मज्झिम-निकाय के धातु-विभग-सुत्तन्त मे भी कहा है, "भिक्षु ! यही परम आर्य सत्य हे, जो कि यह अविनाशी निर्वाण ।"

भगवान् बुद्ध जन्म, जरा-मरण, दु ख-शोक से विमुक्ति के खोजी थे । उसे उन्होने निर्वाण के रूप मे ही पाया था । निर्वाण उनके लिए आत्यन्तिक दु ख-विमुक्ति की अवस्था थी । वह तथागत की मृत्यु पर विजय थी । पालि तिपिटक मे अनेक वार निर्वाण को अमृत-पद कहा गया है, जो वडा सार्थक है । "मैने अमृत को पा लिया है", इन शब्दो मे भगवान् ने अपनी सत्य-प्राप्ति की सूचना सर्वप्रथम ससार को दी

थी। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने भी इन्ही शब्दो में अपनी सत्य-प्राप्ति की सूचना अपने मित्र महामोग्गल्लान को दी थी। भगवान् ने अमृत की ओर ले जानेवाले मार्ग के रूप मे ही मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था। उसीके सम्बन्ध मे उनका कहना था, "भिक्षुओ ! ध्यान दो। मैने अमृत को पाया है। मै उसका तुम्हे उपदेश करता हू।" बोधि-प्राप्ति के बाद भगवान् का पहला उद्गार था, "अमृत के द्वार खुल गये है।" परन्तु यह अमृत क्या है ? बुद्ध-शासन की परिभाषा मे राग, द्वेष और मोह का जो क्षय है, वही अमृत कहलाता है। यही अमृत जिसने पा लिया है, उसे भगवान् 'ब्राह्मण' कहते है। चार स्मृति-प्रस्थानो की भावना से इस अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् ने सयुत्त-निकाय मे कहा है। एक सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने निब्बाण को एक रमणीय भूमि- भाग कहा है, जहा जाने के मार्ग को तथागत जानते है। वहा जाने का जो सीधा मार्ग है, वही आर्य अष्टागिक मार्ग है। इसी प्रकार एक अन्य सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने शरीर को एक राजा का नगर बताया है, जिसके छह इन्द्रिय-आयतन छह दरवाजो के समान है। इस नगर का द्वार-रक्षक स्मृति है और राजा मन है। इस मन रूपी राजा के पास शमथ और विपश्यना रूपी दो सन्देशवाहक आते है, जो सत्य का सदेश लाते है। जिस मार्ग से ये सन्देशवाहक आते-जाते है, वह आर्य अष्टागिक मार्ग है और सत्य के जिस सन्देश को वे लाते है, वह है निर्वाण। निर्वाण के सिद्धान्त का प्रख्यापन बुद्ध-शासन की एसी कोई बडी विशेषता नही है। विशेषता है निर्वाण और उसकी प्राप्ति के उपाय-स्वरूप आर्य अष्टागिक मार्ग की परस्पर सगति। निर्वाण के अनुरूप मार्ग है और मार्ग के अनुरूप निर्वाण। यही तात्पर्य है बुद्ध-धर्म को 'सु-आख्यात' कहने का। "जिस प्रकार गगा की धारा यमुना मे मिलती है और मिलकर एक हो जाती है, इसी प्रकार निर्वाणगामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मिलती है, मिलकर एक हो जाती है।" निर्वाण के मार्ग का इस जीवन मे विशोधन करना चाहिए, इसके लिए बुद्ध-शासन हमें उत्साहित करता है। मलो के क्षय से जबतक अपने चित्त को पूर्ण वि-शुद्ध न कर लो, तबतक चैन न लो, यही उन कल्याणकारी शास्ता का

हमारे लिए उपदेश है । अत अ-प्रमाद की बडी आवश्यकता है निर्वाण-साधना के लिए । इसीलिए कहा गया है, "वीर्य-रत भिक्षु निर्वाण के समीप ही है ।" जैसे-जैसे साधक पचस्कधो की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वह ज्ञानियो की प्रीति और प्रमोद रूपी अमृत को पाता है, जिसका ही दूसरा नाम निर्वाण है । भगवान् बुद्ध अमृत पद-रूपी निर्वाण का उपदेश करते थे, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य भिक्षुणी चापा ने दिया है, जिसने अपने पति उपक के बुद्ध-दर्शन के सबध में कहा है, "उसने सम्यक् सम्बुद्ध को अमृत-पद का उपदेश करते देखा ।" भिक्षुणी सुजाता ने कहा था कि उसने निर्मल धर्म-रूपी 'अमृत पद' को पाया है । चूकि इस अमृत-पद रूपी निर्वाण को बिना जीवन की पूर्ण विशुद्धि के कोई नही पा सकता, इसीलिए बुद्धोपदिष्ट साधना का सार-सकलन करते हुए धर्मसेनापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दो मे कह दिया है, "**आयुष्मानो ! यह जो राग का क्षय, द्वेष का क्षय और मोह का क्षय है, यही कहलाता है निर्वाण ।**"

: १० :

ब्रह्मचर्य का बौद्ध आदर्श

ब्रह्मचर्य सभी साधनो का मेरुदण्ड है, ऐसा सभी शास्त्रकारो ने माना है । कोई भी सदाचार ब्रह्मचर्य की अनुपस्थिति मे नही ठहरता । तत्त्व-दर्शन-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म विभिन्नताए होते हुए भी जीवन-साधना की इस केन्द्रीय परिस्थिति को सभी दर्शनकारो ने स्वीकार किया है । स्थूल वीर्य-रक्षा से लेकर सूक्ष्म आन्तरिक विशुद्धि तक ब्रह्मचर्य-साधन की अनेक भूमियाँ फैली हुई है । ब्रह्म-साक्षात्कार की इच्छा करते हुए जिस ब्रह्मचर्य को पालन करने का उपदेश दिया गया है, उसकी परिणति इस अन्तिम मार्ग तक ही है । भगवान् बुद्ध ने जिस 'केवल-परिपूर्ण' ब्रह्मचर्य का अपने व्यक्तित्व और उपदेशो से प्रचार किया, वह वास्तव में वही प्राचीन आर्य-मार्ग था, जिससे देवताओ ने मृत्यु को जीता था ।

परम ब्रह्म की प्राप्ति वैदिक साधना का लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य को साधन बताया गया है। "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।" बुद्ध ने मानव-जीवन की चरम सफलता दु ख के प्रहाण में देखी। इस प्रकार लक्ष्य की अभिव्यक्ति मे कुछ अन्तर अवश्य है, परन्तु साधन मे बिल्कुल नही है। भगवान् बुद्ध मानते थे कि ब्रह्मचर्य के जीवन से ही दु ख का आत्यन्तिक प्रहाण सम्भव है, उसके बिना बिल्कुल नही। इसीलिए भिक्षु-पद की दीक्षा देते समय वह प्रत्येक व्यक्ति से कहते थे, "आओ भिक्षु ! सम्यक् रूप से दु ख का अन्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो"। ("एहि भिक्खु चर ब्रह्मचरिय सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियाय"।) इस अनित्य भव मे बुद्ध ब्रह्मचर्य के अभ्यास को ही वास्तविक सार की बात मानते थे। उनके मुख से निकले हुए ये शब्द स्मरणीय है, "जो हुए है और होगे, वे सब मर जायगे। इसे जान-कर पण्डित जन सयम के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करे।"

ब्रह्मचर्य के साधन और लक्ष्य के विषय मे बुद्ध-शासन में गम्भीर और विस्तृत विवेचन है। पर उस सबको न लेकर हम यहा केवल उसके एक स्वरूप को लेते है। विशुद्ध ब्रह्मचर्य सभी स्थूल और सूक्ष्म मैथुन सयोगो से युक्त न होना चाहिए। ये मैथुन-सयोग कई प्रकार के हो सकते है। इन के विषय मे भगवान् कहते है—

"ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नही भी करता, परन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-चूर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है, वह उसमे रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमे प्रसन्नता अनुभव करता है, ब्राह्मण ! यह ब्रह्मचर्य का टूट जाना है, छिद्रयुक्त हो जाना है, चितकबरा हो जाना है, धब्बा पड जाना है। ब्राह्मण ! ऐसे पुरुष के लिए कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का पालन कर रहा है। वह जन्म से, जरा से, मरण से नही छूटता नही छूटता दु ख से—मै कहता हू।

"फिर ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी

होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नही करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन, मालिश आदि किये जाने को स्वीकार करता है, परन्तु वह स्त्री के साथ हास्य-विनोद करता है, मजाक करता है, क्रीडा करता है, केलि करता है, उसमे रस लेता है दु ख से नही छूटता—मै कहता हू ।

"फिर ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नही करता, उसके उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नही करता और न उसके साथ हँसी-मजाक ही करता है, परन्तु वह स्त्री को नजर भरकर देखता है, आख गडा कर देखता है, उसमे रस लेता है दु ख से नही छूटता—मै कहता हू ।

"फिर ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नही करता, उसके उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नही करता, उसके साथ हँसी-मजाक भी नही करता और न उसको आख गडाकर देखता ही है, परन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट से छिपकर स्त्री के शब्द को सुनता है, जबकि वह हँस रही हो, या बात कर रही हो, या गा रही हो, या रो रही हो, उसमे रस लेता है दु ख से नही छूटता—मै कहता हू ।

"फिर ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास भी नही करता, उसके उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नही करता, उसके साथ हँसी-मजाक भी नही करता, उसको आख गडा कर देखता भी नही और दीवार की ओट से उसके शब्द को भी नही सुनता, जब कि वह गा रही हो या रो रही हो, परन्तु वह अपने उन हँसी-मजाको, सलापो और क्रीडाओ को स्मरण करता है, जो उसने पहले कभी स्त्री के साथ किये थे। वह उसमे रस लेता है। दु ख से नही छूटता—मै कहता हू ।

"फिर ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी

होने का दावा करता है और न वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता है, न उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को स्वीकार करता है, न उसके साथ हँसी-मजाक करता है, न उसे आख गडाकर देखता है, न उसके शब्द को सुनता है जबकि वह गा रही हो या रो रही हो और न उसके साथ किये हुए अपने पूर्व हँसी-मजाको और सलापो को ही स्मरण करता है, परन्तु वह किसी अन्य गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पॉच काम-सुखो का आनन्द लेते, उनमे लीन होते देखता है। वह उसमे रस लेता है। दु ख से नही छूटता—मै कहता हू।

"फिर ब्राह्मण ! यहा एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और न वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता है, न उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को स्वीकार करता है, न उसके साथ हँसी-मजाक करता है, न उसे आख गडा कर देखता है, न उसके शब्द को सुनता है, जबकि वह गा रही हो या रो रही हो, न उसके साथ किये अपने के हँसी-मजाको को स्मरण करता है और न किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पाच काम-सुखो मे तल्लीन होकर उनको सेवन करते देखकर रस लेता है, परन्तु वह ब्रह्मचर्य का आचरण यह सोचकर करता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य के अभ्यास से मै वाद मे कोई देव या देव-विशेप हो जाऊगा, वह इसकी इच्छा करता है, इसमे रस लेता है। तो ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का टूट जाना है, चित-कबरा हो जाना है, धब्बेदार हो जाना हे। इसलिए कहा जाता है कि इस प्रकार का मनुष्य मैथुन के सयोग से युक्त, मलिन ब्रह्मचर्य का ही आचरण कर रहा है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नही छूटता। नही छूटता दु'ख से—मै कहता हू।"

उपर्युक्त बुद्ध-वचन ब्रह्मचर्य-साधन की भूमियो का बडी सूक्ष्मता-पूर्वक निरूपण करते है। सभी साधको के लिए ये मननीय है।

: ११ :

अशुभ-भावना का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण

अशुभ-भावना मन के विकार को शान्त करने का एक साधन है। मार की सेना को छिन्न-भिन्न करने के लिए यह एक अमोघ अस्त्र है, जिसे मार-विजयी मुनि ने दिया है। जिस प्रकार शरीर की स्थिति के लिए आहार आवश्यक है, उसी प्रकार साधना के लिए इसकी आवश्यकता मानी गई है। आयुष्मान् राहुल को अशुभ-भावना का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा है, "राहुल! अशुभ भावना का अभ्यास कर। अशुभ-भावना का अभ्यास करते जो तेरा राग है, वह सब चला जायगा।" पातजल-योग मे जिसे 'अभ्यास-वैराग्य' कहा गया है, या गीता मे "पुत्र-पत्नी-गृहादि में दु ख-दोपानुदर्शन" का जो विधान किया गया है या "अनित्यमसुख लोकम्" और "ये हि सस्पर्शजा भोगा दु ख-योनय एव ते" के रूप मे जिस सत्य की स्मृति कराई गई है, वे सब अशुभ भावना के ही रूप है। बौद्ध योग-साधन मे इन्हे एक व्यवस्थित और अधिक स्पष्ट रूप अवश्य मिल गया है। 'कायगता सति' (कायगता स्मृति) अर्थात् अपनी काया-सम्बन्धी जागरूकता का बौद्ध साधक के लिए बहुत महत्त्व है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जो 'कायगता सति' नही करता, वह यह नही जानता कि अमृत क्या है, परन्तु जिसने इस ध्यान का अभ्यास किया है, उसने अमृत को पा लिया है और वह यह जानता है कि अमृत क्या है। इस प्रकार 'कायगता सति' करना और अमृत पाना बुद्ध के लिए दोनो एक बात हैं। 'कायगता सति' में शरीर की बत्तीस गन्दगियो पर ध्यान किया जाता है, शरीर की रचना का सूक्ष्म मनन कर उसके यथार्थ रूप को देखा जाता है, शरीर की प्रत्येक क्रिया मे स्मृति या मानसिक सावधानी बरती जाती है और यह अनुभव किया जाता है कि यह काया न 'मै' है और न 'मेरी' है। अपनी

और पराई दोनो ही कायाओ मे यह ध्यान किया जाता है और बुद्ध भगवान् ने महासतिपट्ठान-सुत्त मे इसका विस्तृत रूप से उपदेश दिया है। उन्होने विशुद्धि के लिए 'एकायन मार्ग' के रूप मे चार 'स्मृति-प्रस्थानो' का उपदेश दिया है, जैसे कि काया मे कायानुपश्यना, वेदनाओ मे वेदनानुपश्यना, चित्त मे चित्तानुपश्यना और धर्मो मे धर्मानुपश्यना। इस प्रकार काया मे कायानुपश्यना या कायगता सति बौद्ध साधना के चार प्रस्थानो मे प्रथम है और उसका अभ्यास साधको के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। सम्पूर्ण आन्तरिक और बाह्य ससार को बौद्ध साधक अनित्य, दु ख और अनात्म समझता है। इस सम्बन्धी ध्यान ही विपस्सना (विदर्शना) कहलाता है और वह अशुभ भावना के बिना सम्भव नही है। अशुभ-भावना का तात्त्विक विवेचन करना यहा हमारा लक्ष्य नही है। अशुभ-भावना क्या है, इसे दिखाने के लिए यहा केवल एक उदाहरण का निदर्शन हम करना चाहते है, जिसे आचार्य बुद्धघोष ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विशुद्धिमार्ग' (विसुद्धिमग्गो) मे दिया है। वह इस प्रकार है।

चैत्य पर्वत (श्री लङ्का) पर महातिष्य नामक एक भिक्षु रहते थे। एक दिन भिक्षा के लिए वह चैत्य पर्वत से अनुराधपुर की ओर जा रहे थे। रास्ते मे उन्हे एक स्त्री मिली, जो अपने पति से झगडा कर अनुराधपुर से अपने जातिवालो (माता-पिता) के घर जा रही थी। वह वस्त्राभरणो से पूर्णत अलकृत थी। प्रसन्न-छवि भिक्षु को देखकर उस पर अनुरक्त हो गई। अनेक हाव-भाव किये और भिक्षु को कामासक्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु भिक्षु ध्यानी थे, अशुभ की भावना किये हुए थे। रमणी ने भिक्षु की ओर स्मित किया। उसके हँसते हुए मुख से उसके चमकीले दात भिक्षु को दिखाई पडे। स्थविर की पूर्व-भावित अशुभ-भावना, जो उन्होने हड्डी को आलम्बन मानकर की थी, जाग पडी। अरे, ये तो मास मे सटी हुई हड्डिया है! फिर शरीर का सारा अस्थि-पजर उनकी ध्यान-वीथियो मे होकर गुजर गया। अनित्य! दु ख! अनात्म! वही खडे-खडे स्थविर की ताली लग गई। इतनी भारी पवित्रता कहा ठहरे? पूर्ण विशुद्धि ही पूर्ण विमुक्ति के रूप मे

फूटकर निकलने लगी। बौद्ध परिभाषिक शब्दो मे स्थविर को अर्हत्त्व की प्राप्ति हो गई—

तस्सा दन्तट्ठिक दिस्वा, पुब्बसञ्ञं अनुस्सरि ।
तत्थेव सो ठितो थेरो, अरहत्तं अपापुणि ॥

अर्हत् महातिष्य वही खडे-खडे ध्यान-सुख अनुभव कर रहे थे कि इतने मे उस स्त्री का पति, उसकी खोज करते-करते, उसके पीछे आ निकला। स्थविर को देखकर उसने पूछा, "भन्ते ! क्या आपने इधर से जाती हुई किसी स्त्री को देखा है ?" स्थविर ने उत्तर दिया—

नाभिजानामि इत्थी वा पुरिसो वा इतो गतो ।
अपि च अट्ठिसंघातो गच्छते स महापथे ॥

"वत्स ! मै नही जानता कि इधर से स्त्री गई या पुरुष। हा, हड्डियो के एक भारी ढेर को मैने अवश्य इस महापथ से जाते देखा है।"

स्थविर महातिष्य की विजय ही सबसे बडी विजय है। इसके अलावा और कोई विजय ससार में नही है। स्थविर महातिष्य की स्मृति को हमारा प्रणाम है !

: १२ :

क्रोध का शमन कैसे करें ?

क्रोध एक ऐसा मनोभाव है, जो उत्पन्न होते ही मनुष्य के सौमनस्य को नष्ट कर देता है, उसे दु ख की स्थिति मे ले जाता है। पर-अनिष्ट की भावना क्रोध मे अन्तर्हित रहती है, और जिस हृदय में यह उत्पन्न होता है उसे भी जलाता है। अत आत्म-पीडा-जनक और पर-पीडा-जनक यह भाव है। क्रोधी मनुष्य कभी अहिसक नही बन सकता। जिसे क्रोध विहित है, उसे हिंसा भी विहित है, ऐसा कहा जा सकता है।

क्रोध क्यो उत्पन्न होता है ? मनुष्य क्यो क्रोध करते है ? अतृप्त कामना से क्रोध की उत्पत्ति है,' काम से क्रोध उत्पन्न होता है'। कामना

के कारण व्यक्ति एक दूसरे से लडते है, झगडते हैं, कठोर वाणी से एक दूसरे को वेधते है, कामना के कारण ही वर्ग-सघर्ष है, राष्ट्रो का एक दूसरे से सघर्ष है। व्यष्टि और समष्टि मे व्याप्त यह काम-मूलक क्रोध जीवन को क्षुब्ध बनाये हुए है। प्रति-शरीर शम के अभ्यास से इसके वेग को घटाया जा सकता है।

सम्पूर्ण निष्कामता मे क्रोध की पूर्ण विमुक्ति रखी हुई हैं। परन्तु यह लम्बे और तीव्र प्रयत्नो से साध्य है। इच्छाओ से मुक्त होना साधारण जीवन मे सम्भव नही है। परन्तु अभ्यास से इच्छाओ को घटाया जा सकता है। जैसे-जैसे हम सासरिक वस्तुओ की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करते है, हमारी इच्छाए कम होने लगती हे, हमारी आवश्यकताए घटने लगती है और धीरे-धीरे वह आधार ही टूटने लगता है, जिसका सहारा लेकर काम-क्रोधादि शम-प्रतिपक्षी शत्रु आकर हमे पीडित करते है। शमात्मक धर्म के उपदेष्टा (भगवान् बुद्ध) ने कहा है कि चित्त के अनेक दोप सम्यक् विमर्श के द्वारा दूर किये जा सकते है। क्रोध का शमन करने के लिए मन का अभ्यास क्या है ?

क्रोध की अत्यन्त साधारण और प्राथमिक अभिव्यक्ति कडी वाणी मे होती है। जिसे कडे शब्द वोलने की आदत है, उसे सोचना चाहिए कि दूसरो के पास भी जीभे है। एक बार की बात है कि भगवान् बुद्ध के तिष्य नामक एक भिक्षु-शिष्य उनके पास उदास और बेमन आकर बैठ गये। भगवान् ने पूछा, "तिष्य! तू उदास और बेमन क्यो है ?" तिष्य ने उत्तर दिया, "भन्ते! मेरे साथी भिक्षु मुझसे कडी वाणी बोलते है, मेरे साथ ठीक व्यवहार नही करते।" भगवान् जानते थे कि स्वय तिष्य की वाणी मे विष है। उन्होने उससे कहा, "तिष्य! तेरे साथी भिक्षु तुझे पीडित करते है। इसका कारण यह है कि तेरे जीभ है और तू दूसरो की जीभ को सहन नही कर सकता। तेरे लिए यह उचित नही हैं कि तू स्वय तेज जवान रखे और दूसरो की तेज जबान को सहन न करे। जिस किसीकी तेरे समान जीभ हो, उसे दूसरो की जीभ को भी सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

तिष्य ! रोष मत कर । तेरे लिए विनम्रता श्रेष्ठ है । क्रोध को रोकना श्रेठ है । इसीके लिए ब्रह्मचर्य का जीवन बिताया जाता है ।"

क्रोध से क्रोध को हम कभी जीत लेगे, यह शक्य नही । अ-क्रोध से क्रोध को जीता जाता है, इसे भगवान् बुद्ध ने 'सनातन धर्म' कहा है । विश्व के किसी शास्ता को इसमे विवाद नही है । गाली को हमे सहन ही करना पडेगा, यदि हम सत्य के अभिमुख होना चाहते हैं । भिक्षु फग्गुण को गालिया दी गई थी । भगवान् ने उससे कहा, "फग्गुण ! चाहे तेरे सामने कोई तेरी शिकायत करे, या हाथ से पीटे भी, या ढेले से, दण्ड से, शस्त्र से प्रहार भी करे, तो भी फग्गुण ! तू सब सासारिक विचारो को छोडना, जो तेरे भीतर घर किये वितर्क है, उन्हे छोडना । वहा फग्गुण ! तुझे इस प्रकार सोचना चाहिए—मेरे चित्त मे विकार नही आने पायेगा, दुर्वचन मे मुह से नही निकालूगा, द्वेप-रहित हो दूसरे के प्रति मैत्री-भाव रखूगा, अनुकम्पक हो विहरूगा । फग्गुण ! इस प्रकार तुझे अपनेको शिक्षित करना चाहिए" ।

ऐसा हो सकता है कि क्रोध हमारे अन्दर विद्यमान रहे और उसे अभिव्यक्त न कर हम शान्त पुरुप की पदवी पाते रहे । मज्भिम-निकाय के ककचूपम-सुत्तन्त मे वैदेहिका गृह-पत्नी का उदाहरण दिया गया है । श्रावस्ती की यह गृहस्वामिनी अपने सौम्य स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थी । परन्तु एक दिन अपनी दासी पर बुरी तरह बिगड पडी और उसे पीटा भी । वह अन्दर से उपशान्त नही थी । इस स्थिति को प्रयत्नपूर्वक दूर करना होगा, जीवन का गहरा प्रत्यवेक्षण करना होगा । कडी-से-कडी परिस्थिति मे अपनी परीक्षा करनी पडेगी । लोग हमसे कडी बात बोल सकते है, हमारी झूठी निन्दा कर सकते हैं, हमपर मिथ्या अभियोग लगा सकते है । हर अवस्था मे हमें इस प्रकार मन का अभ्यास करना चाहिए, "मै अपने चित्त को विकार-युक्त न होने दूगा और न दुर्वचन मुह से निकालूगा, मैत्री-भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूगा । उस विरोधी व्यक्ति को भी मैत्री-पूर्ण चित्त से आप्लावित कर विहरूगा । उसको लक्ष्य कर सारे लोक को मैत्रीपूर्ण चित्त से इतना आप्लावित करूगा, जिसका कोई परिमाण नही है । " ये शब्द उन अनुकम्पक शास्ता के है

जिन्होने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व अपने शिष्यो के सामने खडे हुए कहा था 'ऐसा तुम्हे सीखना चाहिए" ।

मैत्री-भावना क्रोध का प्रतिपक्षी साधन है । जिसने मैत्री भावना का अभ्यास किया है, उसे क्रोध उत्पन्न नही हो सकता । यदि कोई कहे कि उसने मैत्री भावना का अभ्यास किया है और फिर भी क्रोध या द्वेष उसके चित्त को दूषित किये हुए है, तो यह बात बुद्ध मानने को तैयार नही है । प्रकाश और अन्धकार साथ-साथ नही रह सकते । जिस प्रकार शख बजानेवाला शख की ध्वनि से चतुर्दिक् वातावरण को गुजायमान कर देता है, उसी प्रकार मैत्री-भावना से सम्पूर्ण दिशाओ को, सारे विश्व-मडल को, आपूरित कर देने के लिए भगवान् बुद्ध ने आदेश दिया है, जो चित्त का एक पूर्ण योग है । उसका प्रभाव बाहरी जगत् पर पडता है, ऐसा योग-दर्शन का साक्ष्य है । अ-क्रोध और सहिष्णुता की साधना कितनी दूर जा सकती है, इसका एक उत्तम उदाहरण हम भिक्षु पूर्ण के जीवन मे देखते है । भिक्षु पूर्ण भगवान् बुद्ध के शिष्य थे और वर्तमान ठाणा और सूरत के आस-पास के प्रदेश (सूनापरान्त) मे धर्म-प्रचारार्थ जाना चाहते थे । अनुमति मागने के लिए भगवान् बुद्ध के पास गये और दोनो मे इस प्रकार सलाप चला—

"भन्ते ! सूनापरान्त नामक जनपद है, मै वहा विहार करूगा"

"पूर्ण ! सूनापरान्त के मनुष्य क्रोधी और कठोर है, वे तुझे कुवाच्य कहेगे तो तू क्या करेगा ? "

"भन्ते ! मै सोचूगा कि सूनापरान्त के मनुष्य भद्र है कि मुझे हाथ से नही मारते"

"यदि हाथ से मारे तो ?"

"सोचूगा कि वे भद्र है कि मुझपर डडे से प्रहार नही करते"

"यदि डडे से प्रहार करे तो ?"

"फिर भी सोचूगा कि वे भद्र है कि शस्त्र से नही मारते, शस्त्र से मेरे प्राण नही ले लेते ।"

"यदि तुझे तीक्ष्ण शस्त्र से मार डाले ?"

"भन्ते ! मै सोचूगा इस तुच्छ जीवन की समाप्ति के लिए मुझे

शस्त्र-हारक (शस्त्र से मारनेवाला) बिना खोजे ही मिल गया !"

"साधु पूर्ण ! साधु पूर्ण । इस प्रकार के शम से युक्त होकर तू सूनापरान्त जनपद मे वास कर सकता है। तू जैसा उचित समझे, कर"

पूर्ण की-सी साधना से क्रोध और द्वेष का पूर्ण शमन किया जा सकता है।

: १३ :

बुद्धकालीन लोक-जीवन

बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसका जनवादी स्वरूप है। यो भगवान् बुद्ध से पूर्व भी कुछ ऋपियो ने साधारण जन को ज्ञान की कल्याणकारी वाणी के सुनाने की बात कही थी। "इमा वाच कल्याणी-मावदानि जनेभ्य ।" परन्तु दूसरी ओर वैदिक परम्परा की एक रूढि-गत मान्यता यह भी थी कि शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार नही है।[1] वह न सस्कार-योग्य है[2] और न यज्ञ का अधिकारी।[3] यही कारण है कि सच्चे अर्थो मे जन-जीवन का विकास वैदिक युग मे सम्भव न हो सका। यदि जन-जीवन मे शूद्र का, जो समाज के निचले स्तर का प्रतीक है, जीवन भी सम्मिलित है, तो उसका विकास हमे वैदिक धर्म मे नही मिलता। ज्ञान के स्वत्व वहा पूर्णत द्विजातियो के अधीन है। भगवान् बुद्ध इतिहास के सर्वप्रथम पुरुष है, जिन्होने 'बहुजन-हित, 'बहुजन-सुख' और 'लोक की अनुकम्पा' को अपने धर्म-चक्र की धुरी

---

१ न च शूद्रस्य वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद्वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रय-विपयत्वात्। ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर भाष्य १।३।३४; अधिक उग्र भावना के लिये देखिये वही १।३।३८ पर शाङ्कर-भाष्य। 'यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्य भवति स कथमश्रुतमधीयीत। भवति च वेदोच्चारेण जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति'।

२ न च सस्कारमर्हति। मनु० १०।६

३ तस्मात् शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्त। तैत्तिरीय सहिता ७।१।१।६

है कि जैसे ही भगवान् ने ज्ञानप्राप्त किया था, ब्रह्मा ने उनसे प्रार्थना की थी, "हे शोक-रहित ! ग्राप इस शोक-मग्न जनता को देखे ।" "सोकावतिण्ण जनत ग्रपेतसोको ग्रवेक्खस्सु ।"[1] बौद्ध धर्म सच्चे ग्रर्थो मे जनता का, जाति-वर्ण-निर्विशेष लोक समूह का, धर्म था ।

परन्तु इसके साथ ही वह उससे ऊपर भी था । 'लोकानुकम्पा' से प्रेरित होने पर भी वह उन लौकिक (लोकिय) बातो का प्रशसक नही था, जिनमे साधारण जनता रमती है । जनता की प्रशसा पाना उसका लक्ष्य नही था । इसीलिए जन-जीवन को वह इतना ऊपर भी उठा सका । ग्रब हम बुद्धकालीन लोक-जीवन की ग्रवस्था पर कुछ दृष्टिपात करेगे, जैसा कि वह पालि साहित्य मे चित्रित है ।

ग्राजकल की भाँति बुद्ध-काल मे भी ग्रधिकाश भारतीय जनता गावो मे ही निवास करती थी । बुद्ध-काल मे छोटे-से-छोटे ग्रौर बडे से बडे गाव थे । जातक-कथाग्रो मे हमे ऐसे ग्रनेक गावो के उल्लेख मिलते है, जिनमे से किन्हीके परिवारो की सख्या कुल तीस ही थी, किन्ही-की ५०० ग्रौर किन्हीमे एक हजार परिवार तक रहते थे । सबसे छोटे गाव को 'गामक' कहा जाता था । साधारणत तीस से लेकर पचास तक घर ही उसमे होते थे । ग्राजकल जिसे हम नगला कहते है, उसे गामक समझना चाहिए । 'गाम' साधारण गाव होता था, जिसमे 'गामक' से ग्रधिक परिवार होते थे । 'द्वार गाम' वे कहलाते थे, जो किसी बडे नगर के द्वार पर स्थित होते थे । इन्हे ग्राजकल के उपनगर जैसे समझने चाहिए । 'पच्चन्त गाम' (प्रत्यन्त ग्राम) वे गाव कहलाते थे, जो दो राष्ट्रों या जनपदो की सीमा पर स्थित हो । इस प्रकार के गावो का जीवन, विशेषत युद्ध-काल मे, ग्रस्त-व्यस्त हो जाता था ग्रौर उनकी जन-सख्या भी प्राय ग्रल्प ग्रौर बिखरी हुई होती थी । सबसे बडे गाव वे थे, जो 'निगम-गाम' कहलाते थे । इसकी जनसख्या निगम से कम ग्रौर गाँव से ग्रधिक होती थी । इन्हे ग्राजकल के छोटे कस्बो के समान माना जा सकता है ।

---

१ विनय-पिटक-महावग्ग ।

भगवान् बुद्ध ने एक बार भविष्यवाणी की थी कि मैत्रेय बुद्ध के आविर्भाव के समय "यह जम्बुद्वीप समृद्ध और सम्पन्न होगा। ग्राम, निगम, जनपद और राजधानी इतने निकट होगे कि एक मुर्गी भी कुदान भरकर एक घर से दूसरे घर पहुँच जाय। सरकण्डे के वन की तरह जम्बुद्वीप मानो नरक पर्यन्त मनुष्यो की आबादी से भर जायगा।"[1] भगवान् बुद्ध की यह भविष्यवाणी उनके समय की समृद्धि और निरन्तर बढती हुई जनसख्या के आकलन पर ही आधारित हो सकती थी। परन्तु हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जम्बुद्वीप मे अधिकतर भूमि अभी जगलो से ढकी हुई थी। उसे साफकर कृषि-योग्य बनाया जा रहा था। लोगो को अधिक-से-अधिक सन्तान की अभिलाषा रहती थी। परन्तु अभी जम्बुद्वीप 'नरक-पर्यन्त' आवादी से नही भरा था।

आज की तरह बुद्ध-काल मे भी भारतीय जनता का मुख्य पेशा कृषि था। राजा का यह कर्तव्य माना जाता था कि उसके जनपद मे जो लोग कृषि करना चाहते हो, उन्हे वह बीज-भात (बीज-भत्त) दे। कृषि-कर्म (कसि कम्म) उस समय किसी जाति-विशेष का पेशा नही माना जाता था। हम मगध के एकनाला ब्राह्मण-ग्राम के कसि भारद्वाज ब्राह्मण को ५०० हल (पचमत्तानि नगलसतानि) लेकर जुताई करवाते देखते है। मज्झिम-निकाय के गोपक-मोग्गल्लान-सुत्तन्त से हम जानते है कि मगध का गोपक मोग्गल्लान ब्राह्मण भी कृषक था। पिप्पलि माणवक (बाद मे स्थविर महाकाश्यप) के यहा भी खेती होती थी। बुद्ध-काल मे भूमि छोटे-छोटे टुकडो के रूप मे वटी हुई थी, जिसपर अलग-अलग परिवार खेती करते थे और फसल काटकर अपने-अपने घर लाते थे। परन्तु एक प्रकार का सामूहिक अधिकार भी सम्पूर्ण गाव की भूमि पर माना जाता था, जिसे 'गाम खेत्त' कहा जाता था और जिसके सम्बन्ध मे 'गामिक' या 'गामभोजक' के विशेष कर्तव्य और अधिकार होते थे और एक व्यक्ति या परिवार को अपने भाग की भूमि को वेचने के अधिकार सीमित थे। पूरे गाव के सामूहिक खेत या

---

१. चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ ३।३)

'गामखेत्त' मे भिन्न-भिन्न परिवारो के अलग-अलग खेतो के टुकडे होते थे, जो मेडो या पानी की नालियो के द्वारा एक दूसरे से विभक्त होते थे, या कही-कही स्तम्भ (पालि, थम्भे) भी लगा दिये जाते थे। मगध के खेतो का यह दृश्य भगवान् बुद्ध को सुहावना लगा था और इसीके प्रेरणा-स्वरूप उन्हे भिक्षुओ के चीवर बनवाने की कल्पना मिली थी। "देखते हो आनन्द, मगध के इन मेड-बधे, कतार-बधे, मर्यादा-बधे, चौमेड-बधे खेतो को। क्या आनन्द, भिक्षुओ के लिए ऐसे चीवर बना सकते हो ?" कपडे के भिन्न-भिन्न टुकडो को सीकर बनाये गये भिक्षु-चीवर सचमुच आकार मे मेड-बधे (अच्चिबद्ध), मर्यादा मे बधे (मरियादा-बद्ध) और चौमेड बधे (सिघाटक-बद्ध) 'मगध खेत्त' के समान ही लगते थे, जिसमे छोटे-छोटे आकार के अनेक खेत जुडे हुए थे। सुवण्ण-कक्कट जातक मे एक हजार करीस (लगभग ८००० एकड) क्षेत्रफल के एक खेत का उल्लेख है। यह खेत राजगृह की पूर्व दिशा मे सालिन्दिय नामक ब्राह्मण-ग्राम मे था। सालिकेदार जातक मे भी एक बडे क्षेत्रफल के खेत का वर्णन है, जिसमे नौकरो के द्वारा खेती की जाती थी।

जिस ढग से बुद्ध-काल मे खेती की जाती थी, वह प्रारभिक और उस युग के अनुरूप ही था। हल और बैल तो भारतीय कृषि-कर्म के अनिवार्य अग है ही, उस समय भी हलो मे बैल जोडकर खेत जोते जाते थे जैसे कि आज। सीहचम्म जातक तथा अन्य कई जातको मे इस प्रकार खेत जोतने के उल्लेख है। साधक भिक्षु-भिक्षुणियो को अनेक वार याद दिलाया गया है, "हलो से खेत को जोतकर और धरती मे बीज बोकर मनुष्य धन प्राप्त करते है और अपने स्त्री-पुत्रो का पालन-पोषण करते हैं तुम भी बुद्ध-शासन को क्यो नही करते, जिसे करके पीछे पछताना नही पडता।" आश्चर्यजनक लगते हुए भी यह सत्य है कि हल जोतने के काम को बुद्ध-काल मे राष्ट्रीय महत्व का काम समझा जाता था। शाक्य लोग तो बोने का एक उत्सव (वप्पमगल) ही मनाते थे, जिसमे एक हजार हल साथ-साथ चलते थे और अमात्यो के सहित राजा भी स्वय हल चलाता था। यह महापर्व इस बात का द्योतक है कि कृषि-कर्म उस समय अत्यन्त गौरवास्पद काम समझा जाता था और जनता

के साथ राजा भी उसमे भाग लेना अपना कर्तव्य समझता था। बुद्ध-कालीन भारत मे किसानो का जीवन सुखी और समृद्ध था और वे शस्य की सम्पन्नता से युक्त थे। स्थविर ब्रह्मालि ने थेरगाथा मे उद्गार करते हुए अत्यन्त अनायास रूप से कहा है, "मैने सुना है, मगध-निवासी लोग शस्य की पूर्णता से युक्त है, वे सुखजीवी है।" कृषि के साथ गोरक्षा का अटूट और अनिवार्य सम्बन्ध है, इसीलिए दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के एसुकारि-सुत्तन्त मे 'कसि-गोरक्खे' (कृषि-गौरक्ष्य) का सार्थक द्वन्द्व-समास प्रयुक्त किया गया है।[1] बुद्ध-काल मे गौ का सम्मान था, स्वय भगवान् बुद्ध ने गायो को माता-पिता, भाई और बन्धु-बान्धवो की तरह परम मित्र और अन्नदा, बलदा, वर्णदा और सुखदा कहा था।[2] गौ पशु पालन का प्रतीक है और बुद्ध-काल मे हम पशु-पालन के कार्य को अत्यन्त उन्नत और व्यवस्थित अवस्था मे पाते है। प्रत्येक गाव मे निश्चित भूमि गोचर-भूमि के रूप मे अलग छोड दी जाती थी, जिसपर उस गावके सब पशु चर सकते थे। प्रतिदिन गोप या गोपालक (ग्वाला) आकर प्रत्येक घर के पशुओ को ले जाता था और चरागाह मे दिनभर उन्हे चराने के बाद फिर वापस घरो पर पहुचा जाता था। इसी प्रकार का एक ग्वाला, जिनका नाम नद था, भगवान् बुद्धको एक बार मार्ग में गगा के किनारे पशु चराते मिला था, जिसने भगवान् के उपदेश को सुना था। ग्वाला सविग्न होकर प्रव्रज्या के लिए याचना करने लगा, परन्तु भगवान् ने उससे कहा, "नन्द, तुम पहले मालिक की गाये लौटा आओ।" ग्वाले ने जब कहा कि गाये तो अपने बछडो के प्रेम मे बधी स्वय चली जायगी, तो सामाजिक नीति के मर्म को समझनेवाले भगवान् ने फिर उससे कहा, "तुम अपने मालिक की गाए लौटाकर ही आओ।" ग्वालो के जीवन का भगवान्

---

१ मज्झिम-निकाय के महादुक्ख क्खन्ध सुत्तन्त और अगुत्तर-निकाय के दोण-सुत्त में कृषि और गोरक्षा के साथ-साथ वाणिज्य को भी रक्खा गया है। मिलाइये 'कृषि-गोरक्ष्य-वाणिज्यम्'। गीता १८। ४४

२ ब्राह्मण-धम्मिय-सुत्त (सुत्त निपात)।

बुद्ध को गहरा और सूक्ष्म ज्ञान था। एक चतुर गोपालक के ग्यारह गुणो का वर्णन, जिनके द्वारा वह गो-यूथ की रक्षा करने के योग्य होता है, भगवान् ने मज्झिम- निकाय के महा-गोपालक सुत्तन्त मे किया है। उन्होने वताया है कि एक चतुर गोपालक को किस प्रकार गायो के वर्ण और लक्षण को जानने वाला होना चाहिए, घाव को ढाँकने वाला, काली मक्खियो को हटाने वाला, मार्ग, चरागाह और पानी को जानने वाला, सव दूध को न दुहने वाला और गायो के पितर और स्वामी जो वृषभ हैं, उनकी अधिक सेवा करने वाला होना चाहिए, आदि। इसी प्रकार इसी निकाय के चूल-गोपालक सुत्तन्त मे भगवान् ने मगध के एक मूर्ख और एक बुद्धिमान् ग्वाले की उपमा देकर वताया है कि किस प्रकार मूर्ख ग्वाले ने वर्षा के अन्तिम मास मे वेघाट गाये विदेह देश की ओर हाक दी जिससे सव गाये गगा की बीच धार मे भवर मे पडकर वह गई, जवकि बुद्धिमान् ग्वाले ने घाट आदि के बारे मे ठीक प्रकार सोच कर उन्हे हाका, जिससे वे कुशलता पूर्वक पार चली गई। कुछ ग्वाले भगवान् बुद्ध के समय मे ऐसे भी होते थे जो स्वय अपनी गाये और अन्य पशु रखते थे। सुत्त- निपात के धनिय-सुत्त मे वर्णित धनिय गोप ऐसा ही समृद्ध ग्वाला दिखाई पडता है जिसने अपने साफ-सुथरे घर, पशु-धन और सुखी जीवन का वर्णन इस प्रकार स्वय भगवान् के सामने किया था, "भात मेरा पक चुका है, दूध दुह लिया गया है। मही (गडक)नदी के तीर पर स्वजनो के साथ वास करता हू मक्खी- मच्छर यहा नही है कछार मे उगी घास को गाये चरती है मै आप अपनी ही मजदूरी करता हू मेरे तरुण वैल और वछडे है। गाभिन गाये हैं और तरुण गाये भी और सबके वीच वृषभराज भी है।" हम जानते है कि १२५० गायो को आगे किए मेण्डक गृहपति ने भिक्षु-सघ सहित भगवान् का अगुत्तराप प्रदेश मे धारोष्ण दूध से सत्कार किया था। भोजन के समय से पूर्व किसी अतिथि के आजाने पर अक्सर उसे पहले दूध पिला कर वाद मे भोजन के समय भोजन कराया जाता था। देश मे पच गोरसो दूध, दही, तक्र, नवनीत, और घी की कमी नही थी। मनुष्यो का जीवन मधुर और सुखी था। "मनुष्य अपने घरो मे ताला

न लगाकर बच्चो को गोद में खिलाते हुए विहरते थे।" त्रिपिटक मे ऐसा अनेक बार बुद्ध के काल के सम्बन्ध मे कहा गया है।

बौद्ध धर्म ने स्त्रियो को गौरव दिया और उनको निर्वाण की अधिकारिणी माना, परन्तु बुद्ध के काल मे साधारण स्त्रियो की अवस्था अच्छी नही कही जा सकती। लोक-समुदाय स्त्रियो को प्राय पुरुप का भाडा, उत्तम भाडा मात्र, समझता था। "इत्थि भण्डान उत्तम।" परतु भार्या के रूप मे उसे उत्तम सखा भी बताया गया है "भरिया परमा सखा।" अगुत्तर-निकाय मे भगवान् बुद्ध ने सात प्रकार की पत्निया बताई है, जिनमे दासी या सेविका के रूप मे पत्नी को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। जातक की कहानियो मे स्त्रियो के जो चरित्र खीचे गये है, वे सामान्य लोक-समाज से लिये गये है। इन कहानियो मे अक्सर स्त्रियो के सदाचार को सन्देह की दृष्टि से देखा गया है। कहा गया है कि सत्य का होना स्त्रियो मे बहुत दुर्लभ है। "सच्च तेस सुदुल्लभ।" मेले और उत्सव बुद्ध-काल मे नगरो और गावो मे बहुत होते रहते थे और उनमे स्त्रिया पुरुषो के साथ भाग लेती थी।

जातक-कथाओ मे तथा अन्यत्र बुद्ध-काल मे होने वाले अनेक खेल-तमाशो के वर्णन मिलते है। नगर के बाहर चारो ओर उद्यान और पुष्करिणिया होती थी जहा जाकर नर-नारी मनोरजन करते थे। नदियो और सरोवरो मे उदक-क्रीडा के भी वर्णन मिलते है। उद्यानो मे जाकर भी तरुण तरुणिया क्रीडा करते थे। कप्पासिय वनखण्ड मे इसी प्रकार क्रीडा करते हुए कुछ तरुण-तरुणिया भगवान् बुद्ध को मिले थे। नृत्य, गीत और आख्यानो के अभिनयो से युक्त 'समज्जा' या समाजे बुद्ध-काल में होती थी। राजगृह मे पर्वत-शिखर पर होने वाले 'गिरग्ग-समज्जा' का उल्लेख अक्सर मिलता है।

बुद्ध-काल मे साधारण जन-समाज मे अनेक प्रकार के मनोरजन के साधन प्रचलित थे, जिन्हे भिक्षुओ की जीवन-दृष्टि के अनुसार अच्छा नही माना गया है। इस प्रकार के कुछ मनोरजन के साधन थे, नाटक, बाजे, नृत्य, गीत, लीला, ताल देना, घडे पर तबला बजाना, गीत-मण्डली, लोहे की गोली का खेल, बास का खेल, हरिण-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-

युद्ध, वृषभ-युद्ध, वकरो का युद्ध, भेडो का युद्ध, मुर्गो का युद्ध, बत्तक का लडाना, लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, लडाई की चाले आदि, जिनका दीघ-निकाय के ब्रह्मजाल-सुत्त मे वर्णन है। भिक्षु को इनसे विरत रहने के लिये कहा गया है। अनेक प्रकार के जुए के खेल भी उस समय के लोक-समाज मे प्रचलित थे। ब्रह्मजाल-सुत्त में अष्टपद, दशपद, आकाश, परिहारपथ आदि अठारह प्रकार के जुए के खेलो का नाम-निर्देश किया गया है। राजा भी अपने पुरोहितो के साथ जुआ खेलते थे (पुरोहितेन सद्धि जूत कीलन्ति)। नटो के द्वारा रस्सी पर नाच दिखाना बुद्ध-काल का एक लोक-प्रिय मनोरजन था। इसी प्रकार नाच दिखाने वाली एक नटिनी के प्रेम मे राजगृह का उग्रसेन नामक एक श्रेष्ठि-पुत्र पड गया था और वह भी उसी काम को करने लगा था। एक नट और उसके शिष्य मेदकथालिका के परिसवाद का एक अश स्वय भगवान् बुद्ध ने सयुत्त-निकाय के सेदक-सुत्त मे एक उपमा के लिए प्रयुक्त किया है। खिलाडी वास को ऊपर उठा, अपने शागिर्द मेदकथालिका से वोला—मेदकथालिके ! इस वास के ऊपर चढकर मेरे कधे के ऊपर खडे हो जाओ ! "वहुत अच्छा" कहकर मेदकथालिका वास के ऊपर चढ खिलाडी के कन्धे के ऊपर खडा हो गया। तव खिलाडी अपने शागिर्द मेदकथालिका से वोला, "मेदकथालिके ! देखना तुम मुझे वचाना और मैं तुम्हे वचाऊगा। इस प्रकार सावधानी से एक दूसरे को वचाते हुए खेल दिखायेगे, पैसा कमाएगे और कुशलता से वास के ऊपर चढकर उतरेगे।" पहलवानी की कला भी वुद्ध-काल मे प्रचलित थी। जातक मे मल्लयुद्ध का वर्णन है, जिसमे दो पहलवान दगल की भूमि (मल्लमण्डल) मे उतरते, एक दूसरे से हाथ मिलाते, अपने भुजदण्डो को ठोकते और परस्पर भिडते दिखाये गये है। इसी प्रकार धनुर्धारियो को भी हम लाल कच्छा और सुनहरी कचुक पहने धनुप की टकार करते हुए मैदान मे उतरते देखते है। सुरा और मेरय (कच्ची शराव) पीने का रिवाज वुद्ध -काल मे जन-साधारण मे था। जहा-तहा पानागार वने हुए थे। वेश्यालय भी थे। अम्बपाली, पदुमवती, सालवती, सिरिमा, सुलमा और अड्ढकासी वुद्ध-काल की प्रसिद्ध वेश्याए थी,

जिनमे से कई के जीवन-परिवर्तन का कारण उनके द्वारा बुद्ध-उपदेश को सुनना था।

नृत्य, गीत और नाटको के अनेक वर्णन पालि साहित्य मे भरे पडे है। जातकट्ठकथा की निदानकथा के अनुसार चवालीस हजार नाटक करने वाली स्त्रियो को कुमार गौतम के मनोरजन के लिए रखा गया था। "नृत्य-गीत आदि मे दक्ष देवकन्याओ के समान अतीव सुन्दर स्त्रियो ने अनेक प्रकार के वाद्यो को लेकर कुमार को प्रसन्न करने के लिए नृत्य, गीत और वाद्य आरम्भ किया।" पञ्चविध तूर्य (सगीत) का वर्णन अक्सर पालि साहित्य मे हुआ है। वाद्य-सगीत (वादित) का उस समय काफी प्रचार था। हाथ से बजाने वाले सगीतज्ञ (पाणिस्सरा) भी उस समय थे और गाने वाले भाट (बेताल) भी।नाटक के तो अनेक भेद-प्रभेद लोक-जीवन मे प्रचलित थे। नृत्य-गीत और वाद्य मे कुशल (नच्चगीतवादितकुसला) नर्तकियो (नाटकी) का उल्लेख कई जातक-कथाओ मे है। एक राजा के यहा १६००० नर्तकिया (सोलससु नाटकी-सहस्सेसु) थी, ऐसा एक जातक-कथा मे कहा गया है।

बुद्ध-काल की जनता अनेक प्रकार के मिथ्या विश्वासो मे फसी हुई थी। विशेषत नक्षत्र विद्या और फलित ज्योतिप मे उसका अधिक विश्वास था। कुमार गौतम के जन्म पर भी ज्योतिपी बुलाये गये थे। शकुन देखने वाले भी लोग उस समय विद्यमान थे। ब्रह्मजाल-सुत्त मे ऐसे अनेक लौकिक विश्वासो का वर्णन है। आटानाटिय-सुत्त मे भी तत्कालीन मन्त्र-विद्या और जादू-टोने के प्रयोगो को देखा जा सकता है। वृक्षो और यक्षो की पूजा प्रचलित थी। एक जातक-कथा मे एक दु खी पति-वियुक्ता नारी को गगा भागीरथी की प्रार्थना करते और उसकी शरण जाते भी दिखाया गया हैं। अनेक प्रकार की मनौतिया भी की जाती थी, जिनका ब्रह्मजाल-सुत्त मे विशद वर्णन है। सुजाता ने बरगद के पेड मे यह मनौती की थी कि यदि विवाह के पश्चात् उसके प्रथम गर्भ मे पुत्र होगा तो वह एक लाख के मूल्य से उसकी पूजा करेगी। उसी के प्रसाद-स्वरूप गौतम बोधिसत्व को स्वादिष्ट खीर खाने को मिली थी। वैशाली के बहुपुत्रक चैत्य मे स्त्रिया बहुत से पुत्रो को प्राप्त

करने के लिए मनौतिया करने जाया करती थी ।

बुद्ध-काल मे अनेक उत्सव हमारे देश मे मनाये जाते थे, जिन्हे सच्चे अर्थो मे लोक-जीवन के उत्सव कहा जा सकता है । चतुर्दशी, पूर्णमासी और प्रत्येक पक्ष की अष्टमी को व्रत रखने का रिवाज भारत मे प्राचीन काल के चला आ रहा है और बुद्ध-काल मे भी प्रचलित था । अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और अन्य देवताओ की पूजा करना और नदी के घाटो पर जाकर जल मे डुबकी लगाना, ये काम स्त्रिया उस समय भी उतनी ही रुचि और श्रद्धा के साथ करती थी, जैसी आज । वाराणसी मे कार्तिक मास मे एक मेला लगता था, जिसका वर्णन पुष्फरत्त जातक मे किया गया है । विमानवत्थु-अट्ठकथा में राजगृह के एक 'नक्खत्तकील (नक्षत्रक्रीडा) नामक उत्सव का वर्णन है जिसमे धनवान् पुरुष भाग लेते थे और जो एक सप्ताह तक चलता था । सिगाल जातक मे राजगृह के एक सुरापान उत्सव का भी वर्णन है । गया मे भी एक बडा उत्सव फाल्गुण के महीने मे मनाया जाता था । उरुवेला मे जटिल साधु प्रति वर्ष एक बडा यज्ञ करते थे जिसमे अङ्ग और मगध जनपदो का एक विशाल जन-समुदाय खाद्य-भोज्य आदि की सामग्री लेकर उपस्थित होता था । चम्पा मे भी एक बडा मेला लगता था । हिमालयवासी तपस्वियो के खट्टे और नमकीन पदार्थो का स्वाद लेने के लिए वाराणसी और चम्पा जैसे नगरो मे आने के उल्लेख है । धम्मपदट्ठकथा मे श्रावस्ती के 'बालनक्षत्र' (बालनक्खत्त) नामक उत्सव का वर्णन है, जिसका स्वरूप बहुत कुछ होली का सा है । लोग गोबर से अपने शरीर को लपेट कर (गोमयेन च सरीर मक्खेत्वा) सात दिन तक असभ्य बाते बकते हुए इधर-उधर घूमते थे (सत्ताह असब्भ भणन्तो विचरन्ति) । इतनी अश्लील बाते बकते थे कि लोग उनका सुनना सहन नही कर सकते थे और उन्हे एक या आधा कार्षापण देकर किसी प्रकार टालते थे । यह सब रूप होली का ही है । 'सुमगलविलासिनी' मे आचार्य बुद्ध-घोष ने दक्षिणापथ के लोगो के 'धरण' नामक उत्सव का वर्णन किया है । महानारदकस्सप जातक मे विदेह राष्ट्र मे होने वाले कुमुदनी (कौमुदी) महोत्सव का भी वर्णन किया गया है ।

मागलिक अवसरो पर गौ के गोवर से लीपना, चौक पूरना आदि आज की तरह बुद्ध-काल मे भी किया जाता था। कुमार गौतम के नामकरण के अवसर पर राज-भवन चारो प्रकार के गन्धो से लीपा गया था, धान की खीलो से मगलाचार किया गया था चारो प्रकार के पुष्प बखेरे गये थे, ब्राह्मणो को घी, मधु, मिश्री और निर्जल खीर से भरी सोने की थालिया परोसी गई थी और फिर लक्षण जानने वाले ब्राह्मणो से बालक के भविष्य के बारे मे पूछा गया था।

पालि तिपिटक और उसकी अट्ठकथाओ से और विशेषत उसके अगभूत प्राचीन लोक-साहित्य के उस अक्षय भण्डार से, जो जातक के नाम से प्रसिद्ध है, प्राचीन भारतीय लोक-जीवन सबधी एक विशाल और प्रामाणिक सामग्री एकत्र की जा सकती है।

: १४ :

पालि साहित्य में प्रकृति-वर्णन

पालि साहित्य विचार-प्रधान साहित्य है। भारतीय साहित्य में वस्तुत मनन के विषय ही दो हैं —उपनिषद् और बुद्ध-वचन। पालि साहित्य मे बुद्ध-वचनो के अतिरिक्त भी कुछ है, पर जो है, वह भी प्राय उन्ही पर आश्रित है। विचार की प्रधानता के साथ-साथ पालि साहित्य मे भावना भी है। यदि मानवीय भावनाए उसमे न होती तो उस विशाल जन-समाज को वह कैसे प्रभावित कर सकता, जैसा कि उसने किया है। जाति-धर्म-निर्विशेष मानवीय भावनाओ की बहुलता पालि साहित्य का एक गुण है। पर भावुकता से भी अधिक प्रमुख गुण है उसका विवेकवाद। वह हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत क्षमता रखता है, पर साथ ही मनोरागो की अतिशयता को वहा हेयता की दृष्टि से देखा गया है। सक्षेप मे विवेक और भावना का एक अद्भुत सामजस्य हमे पालि साहित्य मे मिलता है।

के रूप मे पालि साहित्य मे देखा गया है। बुद्ध-जीवन मे भी हमे यही बात देखने को मिलती है। यह कितने आश्चर्य की बात है, और यह आकस्मिक भी नही है, कि भगवान बुद्ध का जन्म भी एक पेड के नीचे हुआ, ज्ञान भी उन्होने एक पेड के नीचे ही पाया और शरीर भी एक पेड के नीचे छोडा। लुम्बिनी के शाल-वन मे भगवान् का जन्म, गया के पीपल के पेड के नीचे उनकी बुद्धत्व-प्राप्ति और कुशीनगर के दो शाल-वृक्षो के नीचे उनका महापरिनिर्वाण—तथागत के जीवन की ये तीनो बडी घटनाए प्रकृति की खुली गोद मे, वृक्षो के नीचे, ही हुई। प्रासादो मे रहकर बुद्धो का निर्माण नही हो सकता। उनके लिए खुली वायु चाहिए। अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद अनेक स्थानो मे घूमते हुए भगवान् उरुवेला मे पहुचे। वहा नेरजरा (नीलाजन) नदी के तट की भूमि को उन्होने साधना के योग्य समझा। इस स्थान के बारे मे उन्होने स्वय कहा है, "यह भूमि-भाग रमणीय है। यह वन-खण्ड प्रसन्नताकारी है। श्वेत, सुन्दर घाट वाली रमणीय नदी वह रही है। चारो ओर घूमने के लिए गाव है। परमार्थ मे उद्योगी कुल-पुत्र के लिए ध्यान-रत होने के लिए यह स्थान उपयोगी है। यह ध्यान-योग्य स्थान है।" भगवान् बैठ गये। छह वर्ष यही तपस्या की, यही बोधि-वृक्ष के नीचे एक दिन रात्रि के अन्तिम याम मे भगवान् ने ज्ञान प्राप्त किया। बाद मे कई सप्ताह तक भिन्न-भिन्न पेडो के नीचे ध्यान-सुख अनुभव करते हुए भगवान् बैठे रहे। वृक्षो के नीचे ध्यान करने का उपदेश सदा भगवान् अपने शिष्यो को भी देते थे। "यह सामने वृक्षो की छाया है ध्यान करो, प्रमाद मत करो" ऐसा हम उन्हे अनेक बार कहते हुए सुनते है। वन की शोभा ध्यानी भिक्षु से ही है, ऐसा भाव भगवान् ने मज्झिम-निकाय के महागोसिग-सुत्त मे प्रकट किया है। जिन-जिन वनो, वन-खण्डो, पर्वत-प्रदेशो, नदियो और पुष्करिणियो आदि के किनारे भगवान् ने समय-समय पर निवास किया, उनकी सूची बनाई जाय तो विदित होगा कि भगवान् का प्राय. सारा जीवन प्रकृति के बीच ही व्यतीत हुआ। मनुष्य-समाज मे वे उसके कल्याण के लिए आये, पर वहा भी उनका निवास किसी

एकान्त, नि शब्द और प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण स्थान मे ही होता था। किसी ग्राम या नगर मे विहरते हुए भगवान् भोजनोपरान्त पास के जगल मे ध्यान के लिए चले जाया करते थे, ऐसा अगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त मे कहा गया है। यहा हम उन कुछ आम्र-वनो, शिशपा-वनो, मृगोपवनो और अन्य प्राकृतिक स्थानो के दिग्दर्शन करे जहा भगवान् ने कुछ न कुछ समय तक निवास किया और जहा की प्राकृतिक श्री के वर्णन पालि साहित्य मे उपलब्ध होते है।

राजगृह और वैशाली के अनेक सुरम्य प्राकृतिक स्थानो का वर्णन स्वय भगवान् बुद्ध ने किया है और उन्हे 'रमणीय' बताते हुए अपने वहा निवास का भी उल्लेख किया है। वह गृध्रकूट पर्वत, वह यष्टि-वन-उद्यान, वह ऋषिगिरि, वह वेभार, वह वेपुल्ल पब्वत, राजगृह के उन अनेक स्थानो मे से कुछ भर है, जहा तथागत ने निवास किया था! वैशाली की महावन-कूटागारशाला को भला कौन भुला सकता है ? अन्य अनेक स्थानो मे भी हम भगवान् को विहार करते देखते है। कपिलवस्तु और वैशाली के महावन उनके प्रिय ध्यान-स्थान थे। इसी प्रकार काशि-राष्ट्र के अम्बाटक वन और चेतिय जनपद के प्राचीन वश मृगदाव, पारि-लेय्यक वन और चालिय पर्वत पर हम उन्हे विहार करते देखते है। भद्दिय के जातियावन मे भी, जो जाति-पुष्पो से सुरभित वन था, भगवान् विहारार्थ गये थे। इसी प्रकार साकेत के अजन-वन और कण्टकी वन तथा वैशाली के अन्धवन को भी बुद्ध की पद-रज से पवित्र होने का अव-सर मिला था। भग्ग राज्य का भेसकलावन भी इसी प्रकार इतिहास मे पवित्र हो गया है। आलवी, कौशाम्बी और सेतव्या के सिसपा-वन तथा राजगृह, किम्बिला और कजगल के वेणुवन भी आज हमारे लिए इसीलिए स्मरणीय हुए है क्योकि तथागत ने वहाँ विहार किया था। एक बार तो हम भगवान् को एक ऐसे अवसर पर जब वर्षा होने वाली थी, मही (गण्डक) नदी के तट पर (अनुतीरे महिया) एक खुली कुटिया (विवटा कुटि) मे निवास करते देखते है। सरयू (सरभू) तथा अन्य अनेक नदियो के तट पर भी उन्होने विहार किया था। एक अन्य अवसर पर वे सीतवन मे, जो राजगृह के समीप एक श्मशान-वन

था, रात के अन्तिम पहर मे घूम रहे थे। इसी प्रकार काली अन्धकार-ग्रस्त रात्रि मे, जब रिमझिम वर्षा भी हो रही थी, हम एक बार भगवान् को खुली जगह मे ध्यान करते देखते है। कप्पामिय वन-खण्ड मे भी भगवान् ने ध्यान किया था। अन्य अनेक वनो मे, जहा तथागत ने ध्यान किया, मिथिला का मखादेव आम्रवन, अनूपिया का आम्र-वन, वज्जि जनपद के अवरपुर वनखण्ड और गोसिग सालवन, उक्कट्ठा का सुभग वन, नलकपान के पलाश-वन और केतक-वन, कौशाम्बी के देव-वन और प्लक्षगुहा, चातुमा का आमलकी-वन, कुण्डी या कुण्डिय का कुण्डधान-वन और ओपसाद का देव-वन नामक शाल-वन, आदि न जाने कितने वन गिनाये जा सकते है। एक बार हम भगवान् बुद्ध को हिमालय की एक अरण्य-कुटिका मे भी निवास करते देखते है। चम्पा की गग्गरा-पोक्खरणी की स्मृति भी कितनी मधुर है और कितनी सघन और सुन्दर रही होगी आपण की वह नील वृक्ष-पक्ति (नील वन-राजि), जहा तथागत ने एक बार निवास किया था।

भगवान् बुद्ध के प्रकृति-प्रेम को उनके शिष्य भी समझते थे। काल उदायी (जो बाद मे इसी नाम का स्थविर बना) भगवान् बुद्ध का बचपन का एक साथी था। वह शुद्धोदन के एक मन्त्री का पुत्र था। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद जब भगवान् राजगृह मे विहर रहे थे और जब शुद्धोदन कई व्यक्तियो को अपने पुत्र को घर लाने के प्रयत्न मे भेजकर असफल हो चुका था, तो उसने अन्त मे काल उदायी को इस काम के लिए उपयुक्त समझा और भेजा। काल उदायी मत्री का पुत्र था, चतुर था, और बचपन का मित्र होने के कारण भगवान् की प्रकृति को भी समझता था। कुछ समय तक तो वह चुपचाप बना रहा, परन्तु जैसे ही फागुन का महीना आया, वह भगवान् के सामने आकर वसन्त ऋतु की प्रशसा और उसमे यात्रा के आनन्द को वर्णन करता हुआ इस प्रकार बोला—

"भन्ते ! वृक्ष अंगारो की भांति (लाल-लाल फूलो से) सुशोभित हो रहें है, मानो फल की खोज में उन्होने पत्तो को छोड़ दिया है, वे दीप-शिखा की भांति सुशोभित है;

भगीरथो (शाक्यो) पर अनुग्रह करने का यह समय है।"[१]
"मनोरम द्रुम फूल रहे है, चारो दिशाए सुरभित है,
वृक्षो ने फलो की खोज में पत्तों को त्याग दिया है,
वीर! यहा से प्रस्थान करने का यह समय है।"[२]
"भन्ते! न तो अब अधिक शीत है, न अधिक उष्ण है,
ऋतु सुखदायी है और लम्बी यात्रा के अनुकूल है।
अब पश्चिमाभिमुख हो रोहिणी नदी को पार करते हुए शाक्य और कोलिय आपको देखें।"[३]

इस ऋतु और उसमे लम्वी यात्रा की प्रशसा की अभिव्यजना भगवान् समझ गये और उन्होने फाल्गुण पूर्णिमा को अपने परिजनो के हितार्थ यात्रा आरम्भ कर दी।

बुद्ध के समान उनके शिष्यो की जीवन-साधना मे हम भी उनके प्रकृति-प्रेम और उसके सम्पर्क मे रहने के साक्ष्य पाते है। बौद्ध भिक्षुओ का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से सम्वद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, श्मशान, वृक्ष-मूल, पुआल-पुज अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही कुटिया मे ध्यान करते हुए भिक्षुओ को वर्षा, शीत आदि ऋतु-परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रगो और रूपो के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। उनका सारा मानसिक जीवन ध्यान-मय होता था। प्रकृति के अनेक रूपो की प्रतिक्रिया उनके चित्त पर कैमी होती है, इमके अद्भुत रुप से मच्चे चित्र अनेक भिक्षु हमारे लिए छोड गये है। 'थेरगाथा' मे ये मगृहीत है और पालि साहित्य मे प्रकृति-वर्णन के सर्वोत्ताम उदाहरण माने जा मकते है।

१　अङ्गारिनो दानि दुमा भदन्ते फलेसिनो छदन विप्पहाय।
ते अच्चिमन्तो व पभासयन्ति समयो महावीर भगीरसान॥ थेरगाथा, गाथा५२७।

२　दुमानि फुल्लानि मनोरमानि समन्ततो सब्बदिसा पवन्ति।
पत्त पहाय फलमाससाना कालो इतो पक्कमनाय वीर॥ थेरगाथा, गाथा ५२८।

३　नेवाति सीत न पनाति उण्ह सुखा उतु अद्धनिया भदन्ते।
पस्सन्तु त साकिया कोलिया च पच्छामुख रोहिणिय तरन्त॥ थेरगाथा, गाथा ५२९।

प्रकृति-प्रेम बौद्ध साधको के जीवन मे गहरे रूप से सनिविष्ट था और शास्ता के समान वे भी उसे साधना का सहायक मानते थे। एक भिक्षु गङ्गा के तीर पर वास करता था और उसने अपना परिचय ही 'गङ्गा-तीरिय भिक्खु' के रूप मे छोडा है। कितनी आध्यात्मिक मस्ती के साथ उसने कहा है, **'तिण्ण मे तालपत्तानं गङ्गातीरे कुटी कता"**[1] अर्थात् **"गङ्गा के किनारे पर मैंने तीन ताड़ पत्तो की एक कुटिया बनाई है।"** इसी प्रकार साकेत के समीप अजन-वन मे रमने वाले और इसीलिए केवल 'अजन-वनिय' के रूप मे अपना परिचय छोडने वाले एक अन्य भिक्षु ने उतनी ही मस्ती और अल्पेच्छ भावना के साथ कहा है **"अजन वन में प्रवेश कर आसन्दी (कुर्सी) को ही कुटी बनाकर मैं वास करता हू।"**[2] कितने आनन्द का साक्ष्य है अकिचनता के इस जीवन मे! और भी इस निरामिप सुख के साक्ष्य देखिये।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु अपनी कुटिया मे बैठा है। हा, उसकी कुटिया छाई हुई है। भिक्षु उद्गार करता है—

बरसो हे देव! यथासुख बरसो!
मेरी कुटिया छाई हुई है!
वह शान्त और सुखकारी है;
मेरा चित्त समाधि में लीन है,
वह आसक्तिओ से मुक्त हो चुका है—
निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है—
बरसो हे देव! यथासुख बरसो![3]

एक दूसरे भिक्षु ने इसी अनुभव को इनसे भी अधिक रमणीय शब्दो में व्यक्त किया है—

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है!
मेरी कुटिया छाई हुई है!

---

१ गाथा १२७।
२ गाथा ५५।
३ गाथा १।

वह शान्त और सुखकारी है।
उसमें शान्त-चित्त, ध्यानस्थ मैं बैठा हूं।
बरसो हे देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो ![1]

"वस्सति देवो यथा सुगीतं !" ("सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !") कितनी सुन्दर उपमा है। झडी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु मे है। पर ध्यान का सुख तो इससे भी बडा है–

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन न रति होति तादिसी।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्म विपस्सतो॥[2]

पञ्चविध तूर्य ध्वनि (सगीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नही होता, जैसा एकाग्र-चित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होता है। अत ध्यान का सुख ही भिक्षु के लिए सबसे बडा सुख है। प्राकृतिक सौन्दर्य, जो साधारण लोगो के लिए आख के उपभोग की वस्तु है, भिक्षु के लिए ध्यान का उद्दीपन बन जाता है। विश्व के अधिकाश काव्य-साहित्य मे वर्षा-वर्णन या सामान्यत ऋतु-वर्णन काम-रति के उद्दीपन के रूप मे ही किया गया है। भारतीय साहित्य मे महर्षि वाल्मीकि ने अवश्य प्रकृति को आलम्बन मानकर स्वतन्त्र रूप से उसका उदात्त वर्णन किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी के वर्षा और शरद् ऋतुओ के वर्णन, जो श्रीमद्भागवत पर आधारित है, वैराग्य के वर्द्धक अवश्य है, परन्तु वहाँ नीति का उपदेश इतना स्फुट हो गया है कि उसे वास्तविक अर्थो मे प्रकृति-चित्रण ही नही कहा जा सकता। अग्रेजी कवि जेम्स थॉम्सन ने 'दि सीजन्स' मे ऋतुओ का सुन्दर वर्णन किया है, जो उदात्त है और शुभ्र है। इसी प्रकार प्रकृति के पुजारी वर्डस्वर्थ ने भी प्रकृति की आश्वासनकारी शक्ति को दिखाने के साथ-साथ उसके अनेक उदात्त, सुन्दर चित्र भी अङ्कित किये है। ये सब बाते अन्य साहित्यो मे भी मिल जायेगी। पर प्राकृतिक सौन्दर्य को देखने के साथ ही मन की वह प्रसन्नता-

१. गाथा ३२५।
२ गाथा ३९८, मिलाइये गाथा १०७१ भी।

मयी स्थिति हो जाना जिसमे वह पूर्ण निर्विकार होकर सत्य को देख लेना चाहता है, पवित्रता और सुन्दरता के स्रोत को अपने अन्दर ही उद्घाटित करने के लिए व्यग्र हो उठता है, मानव-मन की यह उच्च स्थिति तो केवल 'थेरगाथा' मे ही मिलेगी। विश्व के प्रकृति-कवियो में मानसिक पक्ष की दृष्टि से (बाह्य सौदर्य वर्णन की दृष्टि से नही) सम्भवत वर्डस्वर्थ से आगे कोई नही गया है। अग्रेजी के प्रकृति उपासक कवियो का तो वह सिरमौर ही है। हम उसे आसानी से उनका प्रतिनिधि मान सकते है। मानव-मन के प्रकृति के साथ तादात्म्य के वर्णन मे वर्ड्सवर्थ सबसे अधिक ऊचा अपनी उन प्रसिद्ध पक्तियो मे गया है जो उसने टिटर्न एबे नामक गिर्जे के समीप लिखी थी। इन पंक्तियो मे, जिनके उद्धरण की यहा कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती, कवि ने मुख्यत यह भाव व्यक्त किया है कि प्रकृति के साथ सम्पृक्त हुआ मन एकता की आनन्दानुभूति करता हुआ उस अवस्था तक पहुच जाता है, जहा उसे 'मानवता का शान्त, करुण सगीत (the still, sad music of humanity) सुनाई पडने लगता है, जो न कर्कश है और न घर्षात्मक (nor harsh, nor grating), बल्कि जिसमे (मनको) पवित्र करने और सयमित करने की बहुल शक्ति है (but with ample power to chasten and subdue)। वर्ड्सवर्थ के प्रकृति-दर्शन के साथ 'थेरगाथा' के प्रकृति-दर्शन की एकता की आतुरता न दिखाते हुए (दोनो मे अनेक मौलिक विभिन्नताए है) हमे केवल यहा यही कहना है कि 'पुरिसदम्मसारथि' (पुरुषो को सयमी बनाने के लिए सारथी-स्वरूप, भगवान् बुद्ध) के शिष्यो ने प्राकृतिक दृश्यो के बीच ध्यानस्थ होकर मानवता का जितना अधिक 'शान्त, करुण सगीत' सुना है, और सुनकर 'सयमकारी' और 'पवित्रताकारी' जिस विशाल शक्ति का उन्होने अपने अन्तस् मे साक्षात्कार किया है, वह साधना के इतिहास मे अतुलनीय है। विशेष प्रभावशाली प्राकृतिक-दृश्यो की तो बात ही क्या, एक भिक्षुणी ने तो एक अत्यन्त साधारण परिस्थिति के दर्शन से ही अपने चित्त को पवित्र और सयमित कर लिया है। वह कहती है--दिन मे ध्यान करने के लिए मै बाहर निकली थी। जाकर

गृध्रकूट पर्वत के शिखर पर बैठ गई । वहा देखती हू कि एक हाथी जल मे अवगाहन करने के बाद नदी के किनारे पर बैठा है । एक अंकुशधारी मनुष्य ने उसे आदेश दिया—"पैर पसार ।" हाथी ने पैर पसार दिया । मनुष्य उस पर चढ गया । अदान्त (हाथी) को दमित होते और मनुष्य की अधीनता स्वीकार करते देख, उस गम्भीर अरण्य मे प्रवेश कर मैने भी अपने चित्त को दमित और वशीभूत कर लिया। जब जीवन की साधारण घटनाओ मे इतनी महती शक्ति (Ample power) मानव-मन को विशुद्ध और सयमित करने के लिए (to chasten and subdue) भर पडी है, तो प्रकृति के शीत, वर्षा, वन, नदी, निर्झर आदि भव्य दृश्य इन साधक-साधिकाओ को ध्यान की किन उच्च अवस्थाओ मे ले पहुचते होगे, यह सोचना कठिन नही है ।

वर्षा काल है । सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलगी धारी मोर अपने सुन्दर मुखो से बोल रहे है । कितनी मधुर है उनकी कूजन ! विस्तृत पृथ्वी चारो ओर हरियाली से भरी हुई है । सारी सृष्टि जल से व्याप्त है । आकाश मे जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए है । ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है । भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त उत्तम, अनुकूल रूप से चल रहा है । बुद्ध-शासन के अभ्यास मे वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है । यदि प्रकृति मे उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है । उसे भी उत्साह होता है, अत्यन्त पवित्र, कुशल, दुर्दर्श, उत्तम अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए । वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच एक ध्यानस्थ भिक्षु (चूलक) के इस पराक्रम को देखिये—

नन्दन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा, सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो ।
सुसद्दला चापि महा मही अय, सुव्यापितम्बु, सुवलाहकं नभं ॥
सुकल्लरूपो सुमनस्स झायितं, सुनिक्खमो साधु सुबुद्धसासने ।
सुसुक्कसुक्क निपुण सुदुद्दस, फुसाहित उत्तममच्चुत पद[1] ॥

---

१. गाथाए २११-२१२ ।

छत के नीचे बैठे हुए, मित्र-परिजनादि से घिरे हुए, सासारिक मनुष्य के समान वर्षा का सौंदर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नही थी। उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह इसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था, जैसे उसके मधुर गीत के समान स्रवित होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयकर गुफा में बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश मे गडगडा रहा है। भयकर मूसलाधार वर्षा और आकाश मे निरन्तर बिजली की गडगडाहट! पशु, पक्षी काप रहे है। पर भिक्षु को भय कहाँ? निर्भयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है! अत उसे न भय है, न स्तम्भ है, और न रोमाच! स्थविर सम्बुल कच्चान के अनुभव को उनके शब्दो मे ही सुनिये—

देवो च वस्सति देवो च गलगलायति
एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
तस्स मय्ह एककस्स भेरवे बिले विहरतो
नत्थि भयं वा छम्भितं वा लोमहसो वा॥
धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स भेरवे बिले
विहरतो नत्थि भय वा छम्भितत्त वा लोमहसो वा॥[1]

भिक्षुओ की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषत ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रमी है। सुन्दर ग्रीवा वाले, नीले मोरो का बोलना भिक्षुओ के लिए ध्यान का निमन्त्रण है। शीत वायु मे कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु को ध्यान के लिए उद्बोधन करते है —

नीला सुगीवा सिखिनो मोरा कारविय अभिनदन्ति।
ते सीतवातकलिता सुत्त झाय निबोधेन्ति॥[2]

"नीले रग के, सुन्दर ग्रीवा और शिखा वाले मोर करवीय वन में गाते है। शीतल वायु मे प्रफुल्लित हो कर मधुर गीत गाने वाले ये मोर

---

१. गाथाए १८९-१९०।
२. गाथा २२

सोये हुए भिक्षु को ध्यान के लिए जगाते है"।

इसी प्रकार सप्पक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर अजकर्णी नदी (रापती की एक सहायक नदी) के समीप ध्यान करने का सकल्प कितना उदात्त है

जब स्वच्छ पाण्डुर वर्ण के पख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहो की खोज करते हुए उडते है, उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है!

जब स्वच्छ, पाण्डुर वर्ण के पख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहो की खोज करते हुए उडते है, और उनकी गुफाएँ वर्षा के अन्धकार से ढकी हुई है।

उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है!

इस नदी के दोनो ओर जामुन के पेड है, यहा मेरा मन कैसे न लगेगा?

बडी पगडडी के पीछे, नदी के किनारे पर, अन्य निर्झरिणिया सुशोभित है।

साँपो के भय से विमुक्त मेढक मृदुल नाद कर रहे है?

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नही है!

यह अजकर्णी नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है![1]

वर्षाकालीन सौन्दर्य का कितना सुन्दर, सश्लिप्ट वर्णन है। इतना सूक्ष्म निरीक्षण भिक्षु को प्रकृति के साथ गहरे सम्पर्क से ही प्राप्त हुआ

---

१. यदा वलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति म॥
यदा वलाका सुविसुद्धपण्डरा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसतिलेन मलेन दस्मिनी तदा नदी अजकरणी रमेति म॥
कन्नु तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहि,।
सोभेन्ति आपगा कूल महालेनस्स पच्छतो॥
तामतमदस घसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति।
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवासमसयो खेमा अजकरणी सिवा सुरम्माति॥
गाथाए ३०७-३१०।

है। उसके ऊपर उसकी ध्यानमयता है। काले बादलो मे होकर स्वच्छ, पाण्डुर वर्ण वाले बगुलो का उडना वर्षा ऋतु का एक सुन्दर और चिर-परिचित चित्र है। वर्षाकाल मे चित्रकूट की शोभा का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने आदि वराह की उत्प्रेक्षा के साथ इसे देखा था—

सिखर परस घन घटहि मिलति
बग पांति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि वारिधि मनौ
उठ्यौ है दसन धरि धरनी॥

महाकवि सूरदास ने भी इसी प्रकार वर्षा-काल में शुको की पक्तियो को उडते हुए देखा है और उनके सौन्दर्य को उत्प्रेक्षा के रूप मे व्यवहृत किया है—

स्याम देह दुकूल दुति छवि लसति तुलसी माल।
तड़ित घन सयोग मानो सेनिका सुक जाल॥

जैसा स्पष्ट है, भिक्षु के वर्णन का सौन्दर्य अपना है। उसका प्रकृति-प्रेम न तो वस्तुवर्णनात्मक है और न केवल एक सश्लिष्ट चित्र के रूप मे। उसका ध्यान अविभक्त रूप से उसके साथ सलग्न है। यह उसकी अपनी विशेषता है। और जब वह कहता है **"आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नही है" ("नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो")** तब तो निश्चय ही छठी शताब्दी ईसवी पूर्व के इस उद्गार मे वह अपने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को ही रख देता है जो आज तक के काव्य-साहित्य मे कही भी प्रस्फुटित हो सकी है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच एकान्त ध्यान करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है उससे चरम आनन्दानुभूनि और कुछ नही है, ऐसा साक्ष्य देते हुए एक स्थविर साधक (भूत) ने अपने अनुभव को स्पन्दित करते हुए कहा है—

जब आकाश में मेघो की दुन्दुभी बजती है, और पक्षियो के मार्गों में चारो ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं,

उस समय भिक्षु पहाड पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब नदी-तट के वृक्ष नाना रग-बिरगे पुष्पो से भरे हुए हैं, उस

समय वहां बैठकर सुन्दर मन वाला भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब एकान्त वन में, अर्द्धरात्रि में, बादल गड़गड़ा रहे हैं और हाथी चिंघाड रहे हैं, उस समय पर्वत पर बैठा हुआ भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।[1]

इसी परमानन्द को प्राप्त करने के लिए एक भिक्षु (अशोक के अनुज तिष्य, जो अपनी एकान्तवासी वृत्ति के कारण 'एक विहारिय' भी कहलाते थे) गिरिव्रज जाने को उद्यत है—

अहो! मैं कब बुद्ध द्वारा प्रशंसित वन को जाऊंगा! योगियो के लिये प्रसन्नताकारी, मत्त कुंजरो से सेवित, रमणीय, उस वन मे मैं कब अकेला प्रवेश करूंगा।

उस सुपुष्पित शीत वन में, गिरि और कन्दराओं में, अपने गात्र को सिंचित कर मैं कब अकेला चंक्रमण करूंगा।

शीतल, सुरभित गन्ध वाली वायु जब चल रही होगी, उस समय पर्वत-शिखर पर बैठकर कब मैं अपनी अविद्या को नष्ट करूंगा।

अकेला, विना साथी के, उस रमणीय महावन में, एकान्त, शीतल, पुष्पो से आच्छादित, पर्वत पर विमुक्ति-सुख से सुखी, कब मैं गिरिव्रज में विचरण करूंगा।[2]

---

१ यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहगपथे समन्ततो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति
ततो रति परमतर न विन्दति॥
यदा नदीन कुसुमाकुलान, विचित्तवानेय्यवटंसकान॥
तीरे निसिन्नो सुमनो व झायति ततो रति परमतर न विन्दति॥
यदा निसीथे रहितम्हि कानने, देवे गलन्तम्हि नदन्ति दाठिनो॥
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति,
ततो रति परमतर न विन्दति॥ थेर गाथा, गाथाए ५२२–५२४।

२. हन्द एको गमिस्सामि अरञ्ञ बुद्धवण्णित। गाथा ५३८।
योगिपीतिकर रम्म मत्तकुञ्जरसेवित। गाथा ५३९।
सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे।
गत्तानि परिसिञ्चित्वा चङ्कमिस्सामि एकको। गाथा ५४०।

एक दूसरे भिक्षु (महाकाश्यप) को भी पर्वत कितने प्रिय हैं

करेरि पुष्पों की पंक्तियों से परिपूर्ण, मनोरम भूमि-भाग वाले, कुंजरो से अवरुद्ध—ये पर्वत मुझे कितने प्रिय है !

जहां नील बादलों के समान सुन्दर, शीतल, स्वच्छ जलाशय हैं,
जो इन्द्रगोपों से आच्छादित है—ऐसे पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं !
नील बादलों की चोटियो के समान,
उत्तम कूटागारों के समान,
हाथियो की चिंघाड से रमणीय,
ये वन मुझे कितने प्रिय है ।
जिनकी रमणीय तलहटियों में अभी वर्षा होकर चुकी है,
ऋषियों से सेवित,
मोरो के शब्दों से सदा निनादित,
ये पर्वत मुझे कितने प्रिय है ।
उम्मा पुष्पों के समान रंग वाले
बादलो से आच्छादित आकाश के समान,
नाना पक्षियों से आकीर्ण,
ये पर्वत मुझे कितने प्रिय हैं ।
जहां स्वच्छ जल है, विस्तृत शिलाएं है,
जो लगूरों और मृगो से भरे है,
जहां शैवाल से आच्छादित जलाशय हैं,
ये पर्वत मुझे कितने प्रिय है ![1]

मालुते अपवायन्ते सीते सुरभिगन्धके ।
अविज्ज दालयिम्सामि निसिन्नो नगमुद्धनि । गाथा ५४४ ।
एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने । ५४१ ।
विने कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले ।
विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्सामि गिरिब्बजे ॥ ५४५ ।

१. करेरिमालावितता भूमिभागा मनोरमा ।
कुञ्जराभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति मं ॥ गाथा १०६२ ।

प्राकृतिक वातावरण जिस प्रकार ध्यान के लिए उद्दीपन है, उसी प्रकार वह वासना का भी हो सकता है, यह बात भिक्षुओ को विदित थी। परन्तु उनके जीवन का लक्ष्य शमात्मक धर्म का अभ्यास था, अतः इन चचलताओ मे वे नही पड सकते थे। परन्तु इस बात की अभिज्ञा उन्हे थी। वसन्त की शोभा को उद्दीपन विभाव के रूप मे रखता हुआ एक कामी, लम्पट पुरुष 'थेरीगाथा' मे भिक्षुणी शुभा से कहता है—

पुष्परेणियों से मस्त हुए वृक्ष चारों ओर मधुर गन्ध विकीर्ण कर रहे हैं, प्रथम वसन्त का सुखकारी समय है, चल इस पुष्पित वन में हम रमण करें।

पुष्पों को सिर पर धारण किये हुए ये वृक्ष वायु से प्रकम्पित होकर कैसी सुन्दर मर्मर ध्वनि कर रहे है!"[२]

परन्तु यह वसन्त का वर्णन 'थेरीगाथा' मे केवल पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए है। इसमे अभी बौद्ध कुछ नही है। कोई भी कल्पनाशील कवि ऐसा वर्णन कर सकता है और अनेक ने किये भी है। पर इस वसन्त की शोभा की पृष्ठभूमि मे ही आगे चलकर शुभा भिक्षुणी अपनी आख को दिखाती हुई, जिसकी सुन्दरता को देखकर ही वह पुरुष कामासक्त हो गया था, कहती है, "आखे क्या है? दो गड्ढो मे स्थित, अश्रुओ से सिंचित, जलबुद्बुद मात्र।" यह बौद्ध है। वसन्त का

नीलब्भवण्णा रुचिरा वारिसीता सुचिन्धरा।
इन्दगोपकसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति म ॥ १०६३।
नीलब्भकूटसदिसा कूटागारवरूपमा।
वारणाभिरुदा रम्मा ते सेला रम्यन्ति म ॥ १०६४।
अभिवुट्ठा रम्मतला नगा इसिभि सेविता।
अब्भुन्नदिता सिखीहि ते सेला रमयन्ति म ॥ १०६५।
उम्मापुप्फसमाना गगना वब्भछादिता।
नानादिजगणाकिन्ना ते सेला रमयन्ति म ॥ १०६६।
अच्छोदिका पुथुसिला गोनलङ्गुमिगायुता।
अम्बुसेवालसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति म ॥ १०७०।

२. थेरीगाथा, गाथाए ३७१–३७२।

वर्णन इस प्रभाव की तीव्रता के लिए ही किया गया है। आख के आलम्बन से उत्पन्न होनेवाला जितना भी राग है, उस सब को शमित करने की शक्ति भिक्षुणी शुभा के उपर्युक्त कथन मे है।

प्राकृतिक दृश्य का उपयोग सौन्दर्य के उपमान के रूप मे भी पालि साहित्य मे किया गया है। चापा अपने प्रव्रजित पति को लौटाने के लिए अपनी सुन्दरता का वर्णन करते हुए मार्मिकतापूर्ण शब्दो में कहती है

'हे कृष्ण[1]! गिरि-शिखर पर पुष्पित तक्कारि वृक्ष के समान, या फूली दाड़िम-यष्टि के समान, या द्वीप में उत्पन्न पाटलि पुष्प (गुलाब) के समान, सौन्दर्य और यौवन में मै परिपूर्ण हू। तुम्हारे लिए मै शरीर में हरिचन्दन का लेप करूंगी, सुन्दर काशी के बने रेशमी वस्त्र धारण करूगी। स्वामी! इतनी रूपवती को छोड़कर तुम कहां जाओगे?"[2]

शीतल काल का पूरा अनुभव लेते भी ध्यानी भिक्षुओ को हम 'थेरगाथा' मे देखते है। चर्म-रोग से पीडित एक भिक्षु से जब भगवान् पूछते है कि—

हेमन्त की भयकर शीतल रातें आ रही है,
हे भिक्षु! तुम कैसे करोगे?

तो वह उन्हे उत्तर देता है

मैंने सुना है कि मगध के निवासी शस्य की सम्पन्नता से युक्त है,
उनका जीवन सुखी है। मै भी उनके समान सुख अनुभव करता हूं।
शीत की वे रातें मै इस पुआल-पुंज में लेटकर बिताऊंगा।[3]

भगवान् ने रात्रि मे उठकर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का उपदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिए है। एक भिक्षु का कहना है.

---

१ चापा का पति (उपक) काले रंग का था, इसीलिए वह उसे 'काल' (कृष्ण) कहकर पुकारती है।

२. थेरी गाथा, गाथाए २९७–२९८।

३. थेरगाथा, गाथाए २०७–२०८।

न ताव सुपित होति रत्ति नक्खत्तमालिनी ।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता ॥[1]

"यह तारो भरी रात सोने के लिए नही है । ज्ञानी के लिए यह रात जाग कर ध्यान करने के लिए है ।"

गिरव्रज में जाकर ध्यान करने की एक भिक्षु की इच्छा का उल्लेख हम पहले कर चुके है । उससे भी अधिक प्रभावशाली शब्दो में एक दूसरे स्थविर (तालपुट) ने अपनी इस इच्छा को व्यक्त किया है—

"कब मै अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज की) पर्वत-कन्दराओ मे ध्यान करता हुआ विचरूगा । क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे ?[2]"

"कब मै एकान्त वन मे विदर्शना भावना का अभ्यास करता हुआ निर्भय विचरूगा ! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे ?

कब मै वन के उन मार्गो पर, जिन पर ऋषि (बुद्ध) चले, चलूगा और वर्षाकाल के मेघ नये जल की वृष्टि चीवर पहने हुए मुझ पर करते होगे । क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे[3] ?

कब मै वन और गिरि-गुहाओ मे कलगी-धारी मयूर पक्षियो की मधुर ध्वनि को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए जागरूक होकर ध्यान

---

१ थेरगाथा, गाथा १९३, मिलाइये गीता, "या निशा सर्वभूनाना तस्या जागर्ति सयमी ।" थेरगाथा ने निशा के साथ 'नक्खत्तमालिनी' कह कर उसकी ध्यानमयता को अधिक बढा दिया है और काव्यमयता को भी । नक्षत्रों से भरी यह रात ध्यान करने के लिए है, इसमें नक्षत्रों को आलम्बन बना कर ध्यान करने की ओर सकेत है । मनुष्य और उसके सान्त जगत् की अल्पता की अनुभूति करानेवाला नक्षत्रों से अधिक शायद ही कोई दूसरा ध्यान का विषय हो—दु ख, अनित्य और अनात्म का विराट् दर्शन यहा होता है । 'मानवता के शान्त, करुण सगीत' को यहा ध्यानी भिक्षु सुनते थे ।

२ 'कदानु ह पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्स ।
त मे इद त नु कदा भविस्सति । थेरगाथा, गाथा । १०९१ ॥
विपस्समानो वीतभयो विहस्स, एको वने त नु कदा भविस्सति ॥ १०९३ ॥

३. कदा नु म पावुसकालमेघो, नवेन तोयेन सचीवरं वने ।
इसिप्पयातम्हि पथे वजन्त ओवस्सते, त नु कदा भविस्सति ॥ ११०२ ॥

करूगा ।क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे?[1] फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्षु कहता है ।

हे चित्त ! उस गिरिव्रज में अनेक विचित्र और रग-विरगे पखधारी पक्षी हैं । सुन्दर, नीली ग्रीवा वाले, सुन्दर शिखा वाले, सुन्दर चौच वाले और सुन्दर पख वाले मोर है ।

मेघ कै मजुल घोष को सुनकर उसका अभिनन्दन करते हुए वे नित्य ही मजुल ध्वनि करते रहते है ।

हे चित्त ! जब तू ध्यानी होकर वहा विचरेगा, तो ये तुझे कितने प्रीतिकर होगे ![2]

शूकरो और मृगो से सेवित, प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त, पर्वत-शिखर पर या नये वर्षा-जल से सिक्त कानन मे, किसी गुहा-गृह मे, ध्यान लगाते हुए[3] मयूर और क्रौच के रव से पूरित उस वन मे, तेदुओ और व्याघ्रो के सामने वसने हुए,[4] हे चित्त ! तुम ध्यानी को ये कितने प्रीतिकर होगे !

तालपुट स्थविर के 'क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेगे ?' इन शब्दो की प्रतिध्वनि हमे भर्तृहरि के इन शब्दो मे मिलती है "गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रा गतस्य । किं तैर्भाव्य मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्का कण्डूयन्ते जरठहरिणा स्वाङ्गमङ्गे मदीये ।" उन्होने यह भी भावना प्रकट की है "एकाकी निःस्पृहः शान्त पाणिपात्रो दिगम्वर । कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षम ।" ऊपर हमने तालपुट स्थविर की उस भावना का उद्धरण दिया है जिसमे वे गिरिव्रज मे उस मार्ग पर चलते हुए अपने को देखना चाहते है जिस पर भगवान् वुद्ध स्वय चले थे (इसिप्पयातम्हि पथे

१ कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने, दिजस्स सुत्वा गिरिगब्भरे रुत ।
पच्चुट्ठहित्वा अमतस्स पत्तिया, सचिन्तये त नु कदा भविस्सति ॥ ११०३ ॥

२ सुनीलगीवा सुसिखा सुपेखुणा, सुचित्तपत्तच्छदना विहगमा ।
सुमञ्जुघोसत्थ निताभिगज्जिनो, ते त रमिस्सन्ति वनम्हि झायिन ॥ ११३६ ॥

३ वराहएणेय्य विगाल्हसेविते पब्भारकूटे पकटे व सुन्दरे ।
नवम्बुना पावुससित्त कानने, तहि गुहागेहगतो रमिस्ससि ॥ ११३५ ॥

४. मयूरकोञ्चाभिरुदम्हि कानने, दीपीहि ब्यग्घेहि पुरक्खतो वस ॥ १११३ ॥
ते त रमिस्सन्ति वनम्हि झायिन ॥ ११३६ ॥

: १५ :

श्री लंका

२७२½ मील लम्बा, १३७½ मील चौडा, लङ्का द्वीप विश्व का एक अत्यन्त रमणीय भूमि-भाग है। आकार की दृष्टि से अधिक बडा न होने पर भी उसका प्राकृतिक सौन्दर्य और वैभव महान् है। हाथी, मोती और बहुमूल्य रत्नो के लिए वह प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहा है। उसके निवासियो की शालीनता, उच्च सस्कृति और स्वभावतगत सौन्दर्य जगत्-प्रसिद्ध हैं। भारत के साथ तो लङ्का के सम्बन्ध प्रागैतिहासिक युग से है। भारतवर्ष (बृहत्तर भारत) के नव खण्डो या द्वीपो मे उसकी गणना की गई है। अन्य आठ खण्डो या द्वीपो के नाम है, इन्द्र द्वीप, कशेरुमान्, गभस्तिमान्, नाग द्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण और कुमारी-द्वीप। इनमे कुमारी-द्वीप प्रकृत भारत देश है और शेष आठ भाग बृहत्तर भारत के है। पालि परम्परा मे सिहल द्वीप (सीहल दीप) और ताम्रपर्णि द्वीप (तम्वपण्णि दीप) को, जिन दोनो से तात्पर्य वर्तमान श्री लङ्का या लका द्वीप से है, जम्बुद्वीप (भारत देश) से अलग देश वताया गया है। ताम्रपर्ण के रूप मे श्री लङ्का को वाल्मीकि-रामायण मे समुद्र-पार स्थित वताया गया है। कौटिल्य विष्णुगुप्त ने उसका नाम 'पार-समुद्र' दिया है और उसे मणि और अगरु के लिए प्रसिद्ध वताया है। पूर्व और पश्चिम के अन्य अनेक देशो से भी उसका सम्वन्ध रहा है। चीन-निवासियो ने उसे 'रत्नो का द्वीप' कह कर पुकारा है। थाई-देश के निवासियो के लिए वह 'तवे-लङ्का' अर्थात् 'देवो की लङ्का' है। बर्मी लोग उसे 'तीहो' अर्थात् सिंह-विहार कह कर उसके प्रति सम्मान प्रकट करते है। सुदूर अरव देश मे वह 'सेरेनदिव' नाम से प्रसिद्ध है, जो 'सिहल-द्वीप' का ही विकृत रूप है। ग्रीक राजदूत मेगास्थनीज (चतुर्थ शताव्दी ईसवी पूर्व) ने अपनी 'इण्डिका' मे लङ्का को 'टेप्रोवेन' नाम

ब्दी ईसवी तक)का इतिहास हमे प्रधानत. 'दीपवस' और 'महावस' जैसे इतिहास-ग्रथो और 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा, आचार्य बुद्ध घोष-कृत) की भूमिका से मालूम होता है। 'दीपवस' की रचना ३५० और ४०० ई० के वीच हुई, 'महावस' छठी शताब्दी ई० की रचना है और वुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पाचवी शताब्दी ईसवी है। पाचवी शताब्दी ईसवी के बाद लका का इतिहास 'महावस' के परि-वर्द्धित सस्करण 'चूलवस' मे वर्णित है। 'चूलवस' कोई एकताबद्ध रचना नही है। उसे किसी एक लेखक ने भी नही लिखा, वल्कि भिन्न-भिन्न युगो मे भिन्न-भिन्न लेखको ने काल के प्रवाह के साथ-साथ उसमें लका के इतिहास का क्रमश घटनावार वर्णन किया है। यह कोई आश्चर्य की वात नही है कि मूलत भारतीय मध्यमडल की भाषा पालि मे सिहली लोगो ने अपने जातीय इतिहास को पाचवी शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर ठीक वर्तमान काल तक ग्रथित किया है।

लका के इतिहास की सर्वप्रथम घटना कुमार विजय का ४८३ ईसवी पूर्व (सिहली परम्परा के अनुसार ५४४ ईसवी पूर्व) लका मे आग-मन है। विजय कुमार या विजय 'सिह' लाल (लाट-गुजरात) देश के राजा सिंहवाहु का पुत्र था। विजय के दुर्व्यवहार के कारण पिता ने उसे अपने देश से निर्वासित कर दिया था। साहसिक विजय अपने साथियो के साथ सुप्पारक (वर्तमान सोपारा, जिला ठाणा, बम्वई से ३७ मील उत्तर) आदि वन्दरगाहो मे होता हुआ, लका मे ताम्रपर्णी नामक स्थान पर उतरा। 'महावम' के वर्णनानुसार जिस दिन कुशीनगर मे बुद्ध निर्वाण की प्राप्ति के लिए जुडवा शाल वृक्षो के नीचे लेटे, उसी दिन कुमार विजय यहा आया। इसका अर्थ यह है कि ठीक वुद्ध-परिनिर्वाण के दिन विजय कुमार ने लका मे प्रवेश किया। जिस स्थान पर विजय और उसके साथी उतरे, उसके ताम्रवर्ण की मिट्टी के स्पर्श से उन-के थके हुए हाथ तावे के पत्र (तम्वपण्णि) जैसे हो गये थे, इसीलिए उस प्रदेश और द्वीप का नाम ताम्रपर्णि (तम्वपण्णि) पडा। कुमार विजय के पिता सिहवाहु ने सिंह को मार था। अत. वह 'सिंहल'

को पूरा किया । अशोक के समय मे हुई तृतीय धर्म-सगीति के बाद उसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भिन्न-भिन्न देशो में भिक्षुओ को बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ भेजा। स्थविर मज्झन्तिक को कश्मीर और गधार, स्थविर महादेव को महिषमडल, स्थविर रक्षित को वन-वास (मैसूर का उत्तरी भाग), ग्रीक भिक्षु धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश), स्थविर महाधर्मरक्षित को महाराष्ट्र, स्थविर महारक्षित को यवन-देश, स्थविर मज्झिम को हिमालय प्रदेश, स्थविर सोण और उत्तर को स्वर्ण-भूमि (बर्मा), इस प्रकार अनेक भिक्षुओ को अनेक देशो मे भगवान् बुद्ध का करुणामय सन्देश सुनाने को भेजा गया। अशोक के प्रव्रजित पुत्र कुमार महेन्द्र और इट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्रशाल इन अन्य चार स्थविरो को स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने यह कह कर लका द्वीप मे भेजा, "तुम मनोज्ञ लका द्वीप मे जाकर मनोज्ञ बुद्ध-धर्म की स्थापना करो।" स्थविर महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओ के लका पहुचते ही नर-नारियो के झुड उनके दर्शनार्थ दौड पडे। सबको उन्होने अपने धर्मोपदेश से तृप्त किया। देवान पिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए महेन्द्र ने उससे कहा—

'समणा मयं महाराज धम्मराजस्स सावका।
तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता॥

"हे राजन्! हम धर्मराज (बुद्ध) के शिष्य भिक्षु है और तुझ पर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहा आये है।" स्थविर महेन्द्र के उपदेश को सुन कर राजा देवान पिय तिस्स और सैकडो लका-वासी स्त्री-पुरुषो ने बुद्ध-धर्म मे दीक्षा प्राप्त की। स्थविर महेन्द्र लका के लिए जैसे दूसरे बुद्ध हुए। "बुद्ध के समान अनुपम, द्वीप के दीपक, स्थविर ने लका द्वीप मे दो स्थानो पर द्वीप की ही भाषा मे उपदेश देकर सद्धर्म की स्थापना की।" लका-निवासी समृद्ध और सुसस्कृत तो पहले से थे ही। भारत के साथ व्यापारियो के द्वारा उनका सास्कृतिक सम्बन्ध भी था ही। विजय के बाद अनेक भारतीय परिवार भी वहा जाकर बस गये थे। अशोक और देवान पिय तिस्स के मित्रतापूर्ण सम्बन्धो का हम अभी उल्लेख कर चुके है। इसी सब सास्कृतिक पृष्ठभूमि ने स्थविर

सैकडो विहारो, आरामो और स्तूपो का निर्माण किया। देवान पिय तिस्स की मृत्यु (२०७ ईसवी पूर्व) के आठ वर्ष वाद स्थविर महेन्द्र का भी ६० वर्ष की अवस्था मे परिनिर्वाण हो गया। उसके एक वर्ष वाद भिक्षुणी सघमित्रा भी चल वसी। इस समय बुद्ध-शासन की नीव सिहल मे दृढ रूप से जम चुकी थी। देवान पिय तिस्स की मृत्यु के लगभग ३० वर्ष बाद दमिल (तमिल) लोगो ने अनुराधपुर पर अधिकार कर लिया और ६२ वर्ष तक वह उनके अधिकार मे रहा। तत्कालीन सिहली राजा की क्षमा-वृत्ति और युद्ध के प्रति उपेक्षा की भावना के कारण ही यह नगर उसके हाथ से चला गया था। किन्तु वीर दुट्ठगामणि (दुष्टगामणि—जो अपनी वीरता और युद्ध-प्रियता के कारण ही अपने अहिसक पिता के द्वारा 'दुष्ट' करार दे दिया गया था) ने पडोसी आक्रान्ताओ को परास्त किया और लका के राष्ट्रीय सम्मान की रक्षा की। वीर दुट्ठगामणि ने १६१ ईसवी-पूर्व फिर अनुराधपुर पर अधिकार कर लिया। बुद्ध-धर्म के लिए भी उसने बहुत कुछ किया। मरिचवट्टि विहार और विशाल लोह-प्रासाद नामक विहारो को उसने वनवाया। लोह-प्रासाद की नौ मजिले थी, उनमे से प्रत्येक मे सौ-सौ कमरे थे। इस प्रासाद की छते तावे (लोह) की ईंटो से पाटी गई थी, इसीलिए यह 'लोह-प्रासाद' कहलाता था। नौ मजिलो पर बने हुए सौ-सौ कूटा-गारो मे से प्रत्येक चादी से खचित था। "उन कूटागारो की मूगे की वेदिकाए नाना प्रकार के रत्नो से विभूपित थी। उन वेदिकाओ के कमल नाना प्रकार के रत्नो से खचित थे और वे वेदिकाए चादी की छोटी-छोटी घटियो से घिरी थी। उस प्रासाद मे नाना रत्नो से खचित, खिडकियो से सुशोभित, एक हजार सजे हुए कमरे थे।" लोह-प्रासाद के खडहर आज भी अनुराधपुर के समीप देखे जा सकते है। दुट्ठगामणि ने महास्तूप नामक एक चैत्य और भी वनवाना आरम्भ किया था, परन्तु उसके पूरा होने के पहले ही उसकी मृत्यु हो गई। मरते समय उसने अपने भाई तिष्य को आदेश दिया, "तिष्य! असमाप्त महास्तूप का शेष सव कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करना। स्वय प्रात काल उस पर पुष्प चढाना। प्रति दिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन

सिंहली भिक्षुओ का भारत मे आना-जाना होता रहा । चतुर्थ शताब्दी में राजा महासेन के समय मे जेतवन विहार, मणिहीर विहार और थूपाराम विहार नामक विहारो का निर्माण किया गया और दो भिक्षुणी-विहारो की भी स्थापना की गई । चौथी-पाचवी शताब्दी मे ही, जब कि लका मे महासेन नामक राजा राज्य करता था, बुद्धघोष महास्थविर ने भारत से लका जाकर वहा सिहली अट्ठकथाओ का अध्ययन किया और अपने विशाल अट्ठकथा-साहित्य तथा प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ विशुद्धि-मार्ग (विसुद्धिमग्गो) की रचना की । पाचवी शताब्दी मे ही प्रसिद्ध चीनी यात्री फा-ह्यान, जो भारत आया था, लका भी गया और वहां दो वर्ष तक रहा । यह भी चीन, भारत और लका के सास्कृतिक इतिहास को मिलाने वाली एक महत्त्वपूर्ण कडी है । पालि बौद्धसाहित्य के विकास की दृष्टि से लका के राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६) का शासन-काल भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस समय सिहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यो ने बुद्धघोष-कृत अट्ठकथाओ पर पालि भाषा मे टीकाए लिखने का कार्य आरम्भ किया जो आगे की कई शताब्दियो तक चलता रहा । ठीक आधुनिक युग के आरम्भ तक लका के राजाओ और साधारण जनता ने बडे उत्साहपूर्वक बुद्ध-धर्म के सरक्षण और प्रचार का कार्य किया है । लका से ही बुद्ध-धर्म का सन्देश बर्मा, थाई-देश, लाओस और वियतनाम आदि देशो को गया और इन देशो के साथ उसका सास्कृतिक सम्बन्ध और पारस्परिक आदान-प्रदान बराबर बना रहा ।

आधुनिक युग के आते-आते लका भी भारत के समान पराधीन हो गया । पुर्तगाली, डच और अग्रेज, सभी ने क्रम-क्रम से इस द्वीप का शोषण किया । ईसाई धर्म के प्रचार से बुद्ध-धर्म को भी गहरा धक्का लगा । करीब पाच सौ वर्ष के कडे प्रचार-कार्य के बाद ईसाई लोग छह प्रतिशत सिंहली जनता को ईसाई बनाने मे सफल हो गये । किन्तु धीरे-धीरे पुनर्जागरण का काल आया और लका ने अपने आप को सभाला । आज वहा फिर बुद्ध-शासन अपनी पूरी ज्योति से चमक रहा है । जिस ज्योति को महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहा ले गये थे; उसे फिर सिहली

: १६ :

प्रसेनजित् कोसलराज

भगवान् बुद्ध का समवयस्क कोसलराज प्रसेनजित् एक आकर्षक व्यक्तित्व का पुरुष था। कोसल देश के राजा महाकोसल का वह पुत्र था। कोसला देवी उसकी बहिन थी, जिसका विवाह मगधराज बिम्बिसार से हुआ था। धम्मपदट्ठकथा के अनुसार प्रसेनजित् की शिक्षा तक्षशिला विश्वविद्यालय मे हुई थी, जहा बन्धुल मल्ल और महालि लिच्छवि उसके सहपाठी थे।

प्रसेनजित् को हम पहले वैदिक यज्ञवाद मे श्रद्धावान् देखते है। उसने एक महायज्ञ का आयोजन किया था जिसमे ५०० बैल, ५०० बछडे, ५०० बछडिया, ५०० भेडे, और ५०० बकरे बलि दिये जाने वाले थे। ब्राह्मणो का वह आदर करता था और अनेक ब्राह्मणो को उसकी ओर से गाव दान के रूप मे मिले हुए थे। उदाहरणत उक्कट्ठा गाव उसने दान-स्वरूप पोक्खरसादि (पौष्करसाति या पुष्कलसादी) नामक ब्राह्मण को दिया था। इसी प्रकार सालवतिका लोहिच्च ब्राह्मण को और ओपसाद चकि ब्राह्मण को दिये गये थे। श्रावस्ती-निवासी जानुस्सोणि ब्राह्मण का, जो बडे ठाठ-बाट से रहता था, वह दान-मानादि से सत्कार करता था। अग्गिदत्त (अग्निदत्त) ब्राह्मण का, जो प्रसेनजित् के पिता महाकोसल का पुरोहित था और बाद में प्रसेनजित् का पुरोहित बना, प्रसेनजित् बडा आदर करता था और उसकी सुख-सुविधा का सदा ध्यान रखता था। बावरि ब्राह्मण प्रसेनजित् का विद्या-गुरु था और भूमि, सम्पत्ति आदि से राजा प्रसेनजित् ने उसकी सब प्रकार से सेवा की, जब तक वह उसके राज्य मे रहा। बाद में यह ब्राह्मण तपस्या के लिए दक्षिणापथ मे गोदावरी के तट पर चला गया था और वही आश्रम बना कर रहने लगा था।

बडे-बडे आदमियो को भी झूठ बोलते देख उसे कचहरी करने से ग्लानि हो जाती है, जिसका निवेदन उसने भगवान् मे सयुत्त-निकाय के अत्थ-करण-सुत्त मे किया है। अपनी दादी की मृत्यु के पश्चात् वह शाति प्राप्त करने के लिए भगवान् बुद्ध के पास जाता है। एक वार की वात है कि प्रसेनजित् ने कुछ बुरे स्वप्न देखे। ब्राह्मणो से पूछा तो उन्होने उन्हे अनिष्टसूचक बताया और अनिष्ट के निवारणार्थ यज्ञो के जाल में राजा को फसा दिया। वाद मे मल्लिका की सलाह पर जब वह बुद्ध से मिलने गया तो उन्होने उसके भय को किसी प्रकार दूर किया। एक बार आनन्द के साथ अचिरवती नदी के किनारे सत्सग करते और उन्हे वाहित-देश-निर्मित वस्त्र भेंट करते प्रसेनजित् को हम मज्झिम-निकाय के वाहि-तिय-सुत्तन्त मे देखते है। श्रावस्ती और साकेत के बीच मे तोरणवत्थु नामक ग्राम मे उसने मेधाविनी भिक्षुणी खेमा से कुछ दार्शनिक प्रश्न पूछे थे, जो उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति का परिचय देते है।

कन्या का पिता बनना बुद्ध-काल मे राजाओ तक को कितना कष्टकर लगता था, यह हम प्रसेनजित् के एक जीवन-प्रसग मे देखते है। एक वार की वात है कि राजा धर्म-सलाप करते हुए भगवान् बुद्ध के पास बैठा था। इसी समय उसका एक नौकर आया और उसने धीरे से राजा के कान में एक समाचार दिया। समाचार यह था कि रानी मल्लिका देवी के पुत्री उत्पन्न हुई है। कहा गया है कि इस समाचार को सुनते ही राजा का चेहरा पीला पड गया। भगवान् ने उसे समझाया कि कोई-कोई स्त्री भी पुरुष से अधिक बुद्धिमती और शीलवती होती है और राष्ट्र के लिए उत्तम शासक को जन्म देती है। भगवान् ने उससे कहा कि उसे स्नेहपूर्वक कन्या का पालन-पोषण करना चाहिए।

अपने वर्ग के अन्य व्यक्तियो की तरह प्रसेनजित् कुछ विलासी स्वभाव का भी था। मल्लिका रानी के अलावा सोमा और सकुला दो बहिने भी उसकी रानिया थी। वासभखत्तिया से उसने विवाह किया ही था, जिससे उसका पुत्र विडूडभ था। प्रसेनजित् की रानिया कोम-लाङ्गी और सुगन्ध-विलेपन आदि से विभूषित रहती थी, ऐसा सयुत्त-निकाय के थपति-सुत्त में कहा गया है। भोजन का भी राजा प्रसेनजित्

: १७ :

महाकवि अश्वघोष और उनका पौराणिक ज्ञान

महाकवि अश्वघोष सस्कृत साहित्य के अमर कवियो में है । आदि कवि वाल्मीकि के वे परवर्ती और महाकवि कालिदास और भास के पूर्ववर्ती है। इस प्रकार सस्कृत काव्य-परम्परा मे उनका स्थान अत्यन्त महवपूर्ण है। वर्तमान शताब्दी से पूर्व आर्य अश्वघोष के नाम से भी इस देश मे कोई परिचित न था, परन्तु आज उनके मुख्य ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है[1] और कवि और विचारक के रूप मे उनकी महिमा दिन-दिन बढ रही है।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधिक नही है । चीनी परम्परा के अनुसार, जो प्राय प्रामाणिक मानी जाती है, ये कुषाणवशीय महाराज कनिष्क के समकालीन और उनके गुरु थे । इस प्रकार उनका जीवन-काल ५० ई० पूर्व से लेकर १०० ई० तक के लगभग मान्ना जाता है । अन्य चीनी और तिब्वती परम्पराओ के अनुसार उनका जीवन-काल बुद्ध-परिनिर्वाण के ३००, ६०० या ८०० वर्ष बाद बताया गया है[2] । महाकवि अश्वघोष ने अपनी रचनाओ के अन्त मे अपने जीवन-सम्बन्धी जो अल्प सूचना दी है, उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म साकेत (अयोध्या) मे हुआ था और उनकी माता का

---

१. यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में श्री सूर्यनारायण चौधरी ने महाकवि अश्वघोष के दो काव्य-ग्रथों 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' को सुसम्पादित कर सानुवाद प्रकाशित किया है। इस लेख में उद्धरण इन्ही सस्करणों से है।

२. थामस वाटर्स औन् यूआनचुआङ्म् ट्रेविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३।

चीनी यात्री इ-त्सिङ् ने ६७१-६९५ ईसवी के बीच भारत मे भ्रमण करते हुए लिखा है कि उस समय भारत के बौद्ध विहारो मे अश्वघोष की काव्य-कृतियो का सगायन होता था। इसमे सन्देह नही कि सगीतात्मकता अश्वघोष की कविता का प्रधान गुण है और बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओ के प्रसार के लिए जब कि तूलिका और छेनी का आश्रय तो उसके इतिहास मे अनेक बार लिया गया है, वीणा के तारो मे बुद्ध-जीवन के उदात्त और शमनकारी प्रभाव को झकृत करने वाले कवि और विचारक के रूप मे अश्वघोष का अकेला ही उदाहरण रहेगा। वे बौद्धधर्म के गायक है, लोकोत्तर प्रतिभापूर्ण और अपनी गम्भीर दार्शनिक महिमा में मण्डित।

अयोध्या मे जन्म लेकर महाकवि ने अपना जीवन-कार्य प्राय. कश्मीर और गधार मे पूरा किया। महाराज कनिष्क के निमन्त्रण पर वे चतुर्थ बौद्ध सगीति मे भाग लेने के लिए साकेत से कश्मीर गये और उनका अधिकाश जीवन यही बीता। इस सगीति के वे उप-सभापति बनाये गये जब कि सभापति का पद भदन्त वसुमित्र ने ग्रहण किया। आचार्य अश्वघोष ब्राह्मण कुलीन थे और उन्होने वैदिक वाङ्मय का विधिवत् अध्ययन किया था, जिसका साक्ष्य उनकी रचनाए देती है। पहले वे बौद्धो को शास्त्रार्थ मे परास्त करते हुए भारत के विभिन्न भागो मे घूमते थे। पेशावर मे उनका पार्श्व नामक बौद्ध भिक्षु से शास्त्रार्थ हुआ, जिसमे पराजित होकर उन्होने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अश्वघोप को भिक्षु पद की उपसम्पदा इन वृद्ध भिक्षु पार्श्व से ही मिली। पार्श्व गम्भीर विद्वान्, तार्किक और अनेक शास्त्रो के रचयिता थे। यह खेद की बात है कि उनकी कोई रचना आज नही मिलती। पार्श्व का जन्म उत्तर-भारत मे ब्राह्मण वश मे हुआ था। अस्सी वर्ष की आयु मे उन्होने बौद्ध धर्म मे दीक्षा प्राप्त की थी और तीन वर्ष तक, जब तक उन्होने त्रिपिटक का पूर्ण अनुशीलन नही कर लिया, उन्होने अपनी बगलो या पसलियो (पार्श्व) को चटाई से नही छुवाया। इसीलिए इन उत्साही वृद्ध भिक्षु को 'पार्श्व' नाम से पुकारा जाने लगा। यह स्मरणीय है कि इन्ही वृद्ध भिक्षु के परामर्श से कनिष्क ने

चतुर्थ बौद्ध संगीति को बुलवाने का संकल्प किया था। सातवीं शताब्दी में यूआन् चुआङ् ने अपने भारत-भ्रमण के समय पेशावर (पुरुषपुर) में 'कनिष्क महाविहार' के अवशेष देखे थे, जहाँ आर्य पार्श्व रहा करते थे। यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि उनके समय में भी हीनयानी सम्प्रदाय के कुछ भिक्षु वहाँ रहते थे। टॉमस वाटर्स का अनुमान है कि आज पेशावर नगर में 'गोर खत्री' या 'कारवाँ सराय' के नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है, वह कदाचित् प्राचीन 'कनिष्क महाविहार' ही है[1]। पार्श्व की कोठरी के पूर्व में एक पुराना घर भी यूआन् चुआङ् ने देखा था जहाँ बैठकर पार्श्व के करीब ३५० वर्ष बाद आर्य वसुबन्धु ने अभिधर्म कोश-शास्त्र (अपि-तो-मो-कु-शि-लुन्) की रचना की थी।[2]

एक चीनी परम्परा पार्श्व को अश्वघोष का गुरु न मानकर उनके शिष्य पुण्ययशस् को अश्वघोष का गुरु मानती है।[3] लामा तारानाथ ने नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव को अश्वघोष का गुरु बताया है, जो ठीक नहीं जान पड़ता। नागार्जुन का काल अश्वघोष से कम से कम सौ वर्ष बाद है, अतः नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव अश्वघोष के गुरु नहीं हो सकते। यूआन् चुआङ् ने भी नागार्जुन को अश्वघोष का समकालीन माना है, जो इतिहाससम्मत नहीं है। नागार्जुन निश्चयतः अश्वघोष के परवर्ती हैं। कीथ ने अनुमान किया है कि नागार्जुन अश्वघोष के शिष्य थे[4], जिसके मानने के लिए भी कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

सम्प्रदाय से भी अश्वघोष का नाम जोडा जाता है, जो महायान का ही एक सम्प्रदाय है। अश्वघोष की एक सदिग्ध रचना 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' है जिसके आधार पर उन्हे, मुख्यत जापान मे, महायानी आचार्य माना जाता है। इस ग्रन्थ मे महायानी सिद्धान्तो के आधार पर विज्ञान-वाद और शून्यवाद मे समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। हम जानते है कि शून्यवाद (माध्यमिक मत) के आद्य आचार्य नागार्जुन अश्वघोष से कम से कम एक शताब्दी वाद हुए और विज्ञानवाद के आचार्य असग और वसुबन्धु का समय अश्वघोष से प्राय साढे तीन सौ वर्ष बाद है। अत अधिकतर विद्वानो की प्रवृत्ति 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' को महाकवि अश्वघोष की रचना मानने की नही होती। यह सम्भव है कि इन सम्प्रदायो से सम्बन्धित कुछ सिद्धान्तो का प्रचलन अश्वघोप के युग मे भी रहा हो, परन्तु 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' मे उनके जिस विकसित रूप का परिचय हमे मिलता है, वह अश्वघोप के युग मे सम्भव नही हो सकता। सौन्दरनन्द (१४।१६,) मे 'योगाचार' शब्द का प्रयोग अश्वघोप ने किया है, जिसका अर्थ योगाचार सम्प्रदाय वहा न लेकर सामान्य योगाभ्यास ही लेना चाहिए[1]। पालि तिपिटक मे भी 'योगावचर' शब्द का प्रयोग योग के अभ्यासी के लिए किया गया है। 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के रचयिता अश्वघोष महाकवि अश्वघोप से भिन्न व्यक्ति थे, यह मत अनेक विद्वानो ने प्रकट किया है। इस प्रकार दो अश्वघोपो की उद्भावना की गई है। कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष को अश्वघोष प्रथम और 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के रचयिता अश्वघोष को, जिनका काल उनसे काफी वाद माना गया है, अश्वघोप द्वितीय कहकर पुकारा गया है[2]। आचार्य तकाकुसु, विन्टरनित्ज, राहुल साकृत्यायन, विमलाचरण

---

१ देखिये विन्टरनित्ज हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २६४, पद-सकेत १, दासगुप्त और दे · हिस्ट्री ऑव क्लासीकल सस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७०, पद सकेत २।

२. देखिये र्‌यूकन किमूरा दि ऑरीजिनल एण्ड डिवैलप्ड डाक्ट्रिन्स ऑव इण्डियन बुद्धिज़्म, पृष्ठ ३० एव ६५।

लामा और नलिनाक्ष दत्त प्रभृति इसी मत के मानने वाले हैं। परन्तु 'महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के चीनी रूपान्तर (मूल संस्कृत प्राप्त नहीं है) का अंग्रेजी अनुवाद करने वाले प्रसिद्ध जापानी विद्वान् डॉ० डी० टी० सुजुकी 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' को भी महाकवि अश्वघोष की ही रचना मानते हैं। अश्वघोष बौद्धधर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इस का विवेचन करते हुए डा० ई० एच० जान्स्टन ने उन्हें महासांघिक या बाहुश्रुतिक सम्प्रदाय का अनुगामी बताया है।[1] डा० सुरेन्द्रनाथ दास-गुप्त और सुशील कुमार दे ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर' में उनके इस मत को स्वीकार किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कुछ नये तिब्बती स्रोतों के अनुसन्धान पर अश्व-घोष को सर्वास्तिवादी स्थविर बताया है।[2] जैसा हम पहले कह चुके हैं, कनिष्क ने सर्वास्तिवादी आचार्यों की जो संगीति बुलाई थी, उसके उप-सभापति अश्वघोष थे। अतः अश्वघोष को सर्वास्तिवादी स्थविर

की सहानुभूति थी। वे एव उदार विद्वान् भिक्षु थे। यही कारण है कि तथोक्त हीनयानी और महायानी दोनो प्रकार की प्रवृतिया उनके काव्य मे मिलती है।

महाकवि अश्वघोप की प्रामाणिकतम तीन रचनाए है, बुद्ध-चरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र-प्रकरण। बुद्ध-चरित एक महाकाव्य है। इसमे भगवान् बुद्ध की जीवनी और उनके उपदेश वर्णित है। यह ग्रन्थ अपने मौलिक रूप मे २८ सर्गो मे था। इ-त्सिङ् ने लिखा है उनके भारत भ्रमण के समय (सातवी शताब्दी) इस ग्रन्थ का पाठ भारतवर्ष के पाचो भागो और सुमात्रा, जावा और उनके पास के द्वीपो मे होता था। सन् ४१४ और ४२१ के बीच इस ग्रन्थ का चीनी भाषा मे अनुवाद धर्म-रक्ष ने किया और सातवी या आठवी शताब्दी मे मूल सस्कृत से इस ग्रथ का तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया गया। यह अत्यन्त खेद की वात है कि 'बुद्ध-चरित' का पूर्ण सस्कृत सस्करण अभी हमे नही मिलता। जो रूप हमे प्राप्त है, उसमे १७ सर्ग है और उनमे भी केवल प्रथम १३ ही पूर्ण प्रामाणिक माने जा सकते है। 'सौन्दरनन्द' काव्य मे १८ सर्गो मे भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन है। 'शारिपुत्र-प्रकरण', जो नौ अको की एक नाटकीय रचना है, शारि-पुत्र और मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या से सम्वन्धित है। इन तीन ग्रन्थो के अलावा 'महायान-श्रद्धोत्पाद शास्त्र' का निर्देश हम पहले कर चुके है। 'वज्रसूची', जिसमे वज्र की सुई की तरह तीक्ष्ण दृष्टि से वर्ण-भेद की समालोचना की गई है, अश्वघोप की रचना बताई जाती है, परन्तु अश्व-घोप की सी शैली इस ग्रन्थ मे नही मिलती। वेद और मनु-सहिता से अनेक उद्धरण यहा दिये गये हैं, जिनसे लेखक के व्यापक वैदिक ज्ञान का पता लगता है। 'वज्रसूची' को अश्वघोष की रचना न मान सकने का सवसे वडा कारण यही है कि इ-त्सिङ् ने अश्वघोष-रचित ग्रन्थो की सूची मे इसका उल्लेख नही किया है और न तिव्वती 'तग्यूर' मे ही इसे अश्व-घोष की रचना वताया गया है। 'वज्रसूची' का चीनी अनुवाद सन् ९७३ और ९८१ के बीच किया गया और वहा इस रचना को धर्मकीर्ति नामक व्यक्ति की कृति बताया गया है। 'गण्डीस्तोत्रगाथा' २९ स्रग्धरा

छन्दों में लिखी हुई एक गेय रचना है। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से विन्टरनित्ज ने इसे अश्वघोष के अनुरूप रचना माना है[1], किन्तु जान्स्टन ने इसके अश्वघोष-कृत होने में सन्देह प्रकट किया है[2]। 'सूत्रालंकार' नामक एक अन्य रचना, जिसका सन् ४०५ ई० में कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया, अश्वघोष-कृत बताई जाती है। परन्तु वस्तुतः यह कुमारलात या कुमारलब्ध की रचना है, जो तक्षशिला के निवासी और सौत्रान्तिक मत के संस्थापक आचार्य थे। 'शारिपुत्र-प्रकरण' के अलावा दो अन्य नाटकीय रचनाएं भी अश्वघोष-कृत बताई जाती हैं। ये दोनों रचनाएं 'शारिपुत्र-प्रकरण' के साथ एक ही पाण्डुलिपि में मध्य एशिया (सिक्यांग) के तुर्फान प्रान्त में मिली थीं। इनमें से एक अन्योक्ति के ढंग की नाटकीय रचना है, जिसमें बुद्धि, कीर्ति और धृति जैसे पात्र हैं और दूसरी प्रहसन के रूप में है जिसमें विदूषक भी एक पात्र के रूप में चित्रित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अश्वघोष की नाटकीय रचनाएं संस्कृत साहित्य में प्राचीनतम हैं।

सकते। कवि-कर्म की कुशलता मे कालिदास अवश्य अश्वघोष से बढकर है, यद्यपि कला-पक्ष निर्बल अश्वघोष का भी नही है और कालिदास के समान महाकाव्य (बुद्ध-चरित), खण्ड काव्य (सौदरनन्द), नाटक (शारिपुत्र-प्रकरण) और गीतिकाव्य (गण्डीस्तोत्रगाथा) जैसी विविध काव्य-शैलियो पर उनका पूर्ण अधिकार है। परन्तु कालिदास की तुलना मे सबसे बडी बात जो हमे अश्वघोप मे मिलती है, वह है उनका विचारक का रूप। कवि होने के साथ-साथ अश्वघोष विचारक है, जीवन के गम्भीर दार्शनिक है, एव साधना के शिक्षक भी। यह बात उतनी हद तक हमें कालिदास मे नही मिलती। कालिदास प्रेम और सौन्दर्य के, वैभव और विलास के, कवि है। उनकी लेखनी ने नारियो का शृ गार किया है परन्तु जीवन मे व्याप्त दु ख को उन्होने कहा देखा है ? उनके काव्य मे जीवन का गम्भीर पक्ष कहा है ? कालिदास की कविता मुख्यत: शृगारात्मक है, जब कि अश्वघोष ने साफ तौर पर कहा है कि "मनुष्यो के हित और सुख के लिए यह यह काव्य (बुद्ध-चरित) लिखा गया है, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने लिए।[1]" इसी प्रकार उन्होने सौन्दरनन्द-काव्य के अन्त मे कहा है, "यह कृति आध्यात्मिक शान्ति के लिए है न कि मनोरजन के लिए। काव्य-धर्म के अनुरोध से जो कुछ सरस भी मैने यहा कहा है, वह केवल कटु औपध को पीने के योग्य वनाने के लिए मधु मिलाने के समान है।[2]" इस प्रकार हम देखते है कि कवि-कर्म का जो लक्ष्य अश्वघोष के सामने था, वह मानव के कल्याण का साधक था और स्वभावत उसमे आध्यात्मिक प्रभाव की अधिक अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु एक विशेष बात जिस पर हम यहा लक्ष्य करना चाहते है, वह है महाकवि अश्वघोष द्वारा प्राचीन भारतीय सस्कृति और आदर्शो का चित्रण। बौद्धकवि ने बुद्ध और बौद्धधर्म को उनकी प्रकृत ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग करके नही देखा है। सम्पूर्ण बुद्ध-पूर्व इतिहास की भूमिका को लेकर उसने

१ बुद्ध-चरित २८।७४।

२ सौन्दरनन्द १८।६३।

बुद्ध के जीवन और उनके उपदेशों को समझने का प्रयत्न किया है। अतः स्वभावतः भगवान् बुद्ध के जीवन-प्रसंग में आने वाले अनेक तथ्यों और घटनाओं को उसने पूर्व इतिहास के समान तथ्यों और घटनाओं से मिलाया है और इस प्रकार बिलकुल प्रासंगिक रूप में उसने इतनी विशाल सामग्री प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हमें दी है, जो अपनी परिधि की विशालता और व्यापकता में अद्वितीय है।

अश्वघोष 'साकेतक' थे, अतः साकेतवासी राम से और उनकी कथा के गायक वाल्मीकि से उनका स्वाभाविक ममत्व था। महर्षि वाल्मीकि को उन्होंने 'धीमान्' कहा है और उनका आदि कवि होना स्वीकार किया है। कपिल गौतम द्वारा इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों के पालन-पोषण के प्रसंग में उन्हें बरबस वाल्मीकि द्वारा मैथिली के पुत्रों के पालन-पोषण की याद आ जाती है—

स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः।
वाल्मीकिरिव धीमांश्च धीमतोर्मैथिलेययोः॥[1]

महाकवि अश्वघोष ने ही हमें यह महत्त्वपूर्ण सूचना दी है कि महर्षि वाल्मीकि से पूर्व भृगु च्यवन ने भी आदि काव्य लिखने की चेष्टा की थी, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। बाद में उनके परवर्ती ऋषि वाल्मीकि ने यह कार्य किया—

वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं"

इति तनयवियोगजातदुःखः
क्षितिसदृशं सहजं विहाय धैर्यम् ।
दशरथ इव रामशोकवश्यो
बहु विललाप नृपो विसंज्ञकल्पः ॥[१]

वह कहने लगा 'राजा अज के बुद्धमान् पुत्र, इन्द्र के सखा, राजा (दशरथ) से मुझे ईर्ष्या है, जो पुत्र के वन चले जाने पर स्वर्ग चले गये, व्यर्थ आसू बहाते हुए दीनतापूर्वक जीवित नही रहे —

अजस्य राज्ञस्तनयाय धीमते
नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्पृहा ।
गते वनं यस्तनये दिवं गतो
न मोघवाष्पः कृपणं जिजीव ह ॥[२]

राम की कथा मे एक अत्यन्त मार्मिक प्रसग राम को वन मे पहुचा कर सुमन्त्र का खाली रथ लेकर अयोध्या को लौटना है । कैसे सम्भव था कि सिद्धार्थ का सारथी छन्दक अपने स्वामी के द्वारा यह कहे जाने पर कि 'घोडे को लेकर लौट जाओ, मै इच्छित स्थान पर पहुच गया हू' अपनी तुलना हतभाग्य सुमन्त्र से न करता ? स्वामिभक्ति के पूर्ण अधिकार के साथ उसने उत्तर दिया, "तुमको वन मे छोडकर, जैसे सुमन्त्र ने राघव को छोडा, मै जलते हुए चित्त से नगर को नही जा सकता ।[३]" परन्तु सुमन्त्र के समान छन्दक को भी जाना ही पडा । कन्थक की पीठ सिद्धार्थ से खाली, उसी प्रकार जैसे सुमन्त्र का रथ राम से खाली ! शाक्य-कुल-ऋषभ के विना ही सारथी (छन्दक) और अश्व (कन्थक) दोनो आये हैं, यह सुनकर नगर की जनता ने मार्ग मे उसी प्रकार आसू बहाये, जैसे प्राचीन काल मे राम का रथ वन से खाली

गायक भृगु के पुत्र च्यवन ऋषि थे । "श्लोकस्याय पुरा गीतो भार्गवेन महात्मना ।"

१. बुद्ध-चरित ८।८१ ।

२. बुद्ध-चरित ८।७९ ।

३. नास्मि यातु पुर शक्तो दह्यमानेन चेतसा ।
त्वामरण्ये परित्यज्य सुमन्त्र इव राघवम् ॥ बुद्ध-चरित ६।३६

लौट आने पर —

मुमोच बाष्पं पथि नागरो जनः
पुरा रथे दाशरथेरिवागते ।[१]

शुद्धोदन ने अपने मन्त्री और पुरोहित को सिद्धार्थ को खोज लाने के लिए भेजा। उन दोनों ने कुमार सिद्धार्थ को वन में एक वृक्ष के नीचे बैठे देखा। उस समय के दृश्य का वर्णन करते हुए महाकवि ने कहा है, "तब रथ छोड़ कर मंत्री के सहित पुरोहित उसके पास गया, जैसे वन में स्थित राम के समीप वामदेव के साथ दर्शनाभिलाषी और्वशेय मुनि (वसिष्ठ) गये थे।[२]" शुद्धोदन के पुरोहित ने कुमार सिद्धार्थ को घर चलने के लिए आग्रह करते हुए राम की पितृ-भक्ति की याद दिलाई। "राम ने पिता के प्रिय के लिये कार्य किया, तुम्हें भी पिता का इष्ट करना चाहिये।[३]" लिच्छवियों को उपदेश देते हुए भगवान् तथागत ने अन्य महापुरुषों के नाम लेते हुए राम के सम्बन्ध में भी कहा था कि वे भी मृत्यु को प्राप्त हुए।[४] मुनि वसिष्ठ के सम्बन्ध में भी अश्वघोष ने बहुत कुछ कहा है। उन्होंने हमें बताया है कि व्यास से पूर्व वसिष्ठ ने वेदों के विभाजन का प्रयत्न किया था, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली।[५] ऋषि असित का सत्कार करने के बाद राजा शुद्धोदन उनसे निवेदन करते इस प्रकार दिखाये गये हैं, जैसे प्राचीन काल में राजा अन्तिदेव वसिष्ठ से।[६] महामुनि अन्तिदेव ने मुनि वसिष्ठ से राज्यलक्ष्मी प्राप्त की थी, ऐसा भी संकेत उन्होंने दिया है।[७] वसिष्ठ और अत्रि ऊर्ध्वरेता ऋषि कहे गये हैं।[८] शाक्यों के

पूर्व पुरुष कपिल गौतम ऋषि की तुलना वसिष्ठ से करते हुए अश्वघोष ने कहा है कि "अपने हविष्य के लिये उन्होने वसिष्ठ के समान गौ को दुहा और तपस्वी शिष्यो के बीच वसिष्ठ के समान अपनी वाणी को दुहा।"[१] अश्वघोष ने वसिष्ठ के सबध मे यह भी कहा है कि कामुकता के वशीभूत होकर उन्होने एक चाण्डाली से रमण किया था। बुद्ध-चरित में उन्होने कहा है, "रमण करने की इच्छा से वसिष्ठ मुनि ने निन्दित चाण्डाल जाति की कन्या अक्षमाला मे कपिञ्जलाद नामक पुत्र को उत्पन्न किया।"[२] इसी बात को उन्होने सौन्दरनन्द में भी दुहराया है।[3] महर्षि गाधि-पुत्र विश्वामित्र की ब्राह्मणत्व-प्राप्ति का भी उल्लेख अश्वघोष ने किया है। "जिस द्विजत्व को कुशिक (विश्वामित्र के पितामह) ने नही पाया, उसे गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) ने प्राप्त किया"[४] घृताची नामक अप्सरा के द्वारा उनके तपोभग का उल्लेख करते हुए महाकवि कहते है "महा तपस्या मे अवगाहन करने पर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सरा के द्वारा हरण किया गया और उस महर्षि ने उसके साथ बिताये गये दस वर्षो को एक दिन माना!"[५] विश्वामित्र ने राजा त्रिशकु से यज्ञ करवाया था, यह कथा पुराणो में प्रसिद्ध है। श्रावस्ती के उपवन मे ठहरे हुए भगवान् तथागत के पास जाकर कोशलराज प्रसेनजित् प्रसन्नता प्रकट कर रहा है, "एक साधु पुरुष, जो इस लोक व परलोक के ईश्वर है, इसमे ठहरे हुए है, इसी-लिए मेरा उपवन देखने मे वैसा ही गौरवमय है, जैसा कि त्रिशकु का महल था जिसमें महर्षि गाधि-पुत्र (विश्वामित्र) का स्वागत हुआ था।"[६] मुनि ऋष्यशृ ग, जो स्त्रियो के विपय मे अज्ञानी थे, किस प्रकार विविध उपायो से शान्ता के द्वारा पकड कर ले जाए गए, इस

---

१ सौन्दरनन्द १।३
२ बुद्ध-चरित ४।७७
३ सौन्दरनन्द ७।२८
४ यच्च द्विजत्व कुशिको न लेभे तद्गाधिन सूनुरवाप राजन्। बुद्ध-चरित १।४४
५ बुद्ध चरित ४।२०
६ बुद्ध-चरित २०।८

का उल्लेख भी महाकवि ने किया है।[1] महाभारत की कथा के अनेक प्रसंगों और पात्रों का उल्लेख अश्वघोष ने किया है। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास भी काम-पीड़ित हुए, इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है, "प्राचीन काल में काशि-सुन्दरी नामक वेश्या ने महर्षि व्यास को, जो देवताओं के लिए भी दुर्धर्ष थे, पाद से मारा।"[2] कृष्ण द्वारा कंस की हत्या और अश्वराज (केशी) के मुख को विदीर्ण करने का उल्लेख भी किया गया है।[3] इसी प्रकार शिशुपाल और चेदियों ने अहंकारवश कृष्ण से युद्ध किया था, इसका भी उल्लेख है।[4] कौरवों की पराजय और युद्ध में भस्मसात् होने का उल्लेख भी महाकवि ने किया है।[5] मोर की सुन्दरता का वर्णन करते हुए बौद्ध कवि ने उसकी उपमा लम्बी और मोटी भुजाओं वाले बलराम के वैदूर्य मणि से बने बाजूबन्द से दी है।[6] परशुराम द्वारा कार्तवीर्य अर्जुन की सहस्र भुजाओं के काटने का उल्लेख महाकवि ने किया है[7] और उनके द्वारा क्षत्रिय-विनाश की कथा का स्मरण करते हुए कहा है, "भृगु के पुत्र उस क्रोधी मुनि ने क्षत्रियों को उन्मूलित करने के लिए शस्त्र ग्रहण किया।"[8]

इसी प्रकार जनमेजय की काम-वासना का उल्लेख है।[9] माद्री (पाण्डु की पत्नी) का उल्लेख है।[10] गंगा के पुत्र भीष्म का वर्णन

है [1], ययाति के विख्यात पुत्रो का उल्लेख है [2], ययाति और भूरि-द्युम्न जैसे राजर्पियो की स्वर्ग-प्राप्ति और फिर स्वर्ग से च्युत होने की कथा है [3], नहुष-पुत्र ययाति के सुराज्य का वर्णन [4], और विश्वाची अप्सरा के साथ उसके रमण की कथा है। [5] इसी प्रकार राजा नहुष के अनेक कृत्यो का उल्लेख है [6], विदेहराज के राज्य के सूने होने का वर्णन है [7], राजा मान्धाता को अनेक बार स्मरण किया गया है [8], राजा पृथु की कथा है [9], देवो से युद्ध करने वाले नमुचि दैत्य का उल्लेख है [10], कुवेर के पुत्र नलकूबर [11], और शिव के पुत्र कार्तिकेय [12], के उल्लेख है। सिद्धार्थ के जन्म से शुद्धोदन इस प्रकार प्रसन्न हुआ, 'जैसे कार्तिकेय के जन्म से शिव। कपिल का वह नगर जनपद के साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ, जैसा नलकूवर के जन्म पर अप्सराओ से भरा कुवेर का नगर।" पूर्व परम्पराओ की स्मृति दिलाता हुआ कुमार के जन्म का कितना सुन्दर वर्णन है।

ऊपर हमने पुराण-इतिहास सम्बन्धी पात्रो और घटनाओ का उल्लेख किया है, जिनका उपयोग अश्वघोप ने बुद्ध-जीवन के कथा-प्रसग मे किया है। इनकी सख्या इतनी अधिक है कि उनका पूरा निर्देश यहा नही किया जा सकता। उनको लेने मे बौद्ध कवि का

---

१ बुद्ध-चरित ६।२५, ११।१८
२. सौन्दरनन्द १।५६
३. सौन्दरनन्द ११।४६
४. बुद्ध-चरित २।११
५. बुद्ध-चरित ४।७८
६. बुद्ध-चरित २।११, ११।१४, ११।१६, २५।१२
७. बुद्ध-चरित १३।५
८ बुद्ध-चरित १।१०;१०।३१, ११।१३; २१।१०, २४।३६
९. बुद्ध-चरित १।१०
१०. सौन्दरनन्द ६।१९
११. बुद्ध-चरित १।८९
१२. बुद्ध चरित १।८८

क्या उद्देश्य था, यह हमें समझ लेना चाहिए। न तो बौद्ध कवि-दार्शनिक को अपनी बहुज्ञता दिखाने से प्रयोजन था और न प्राचीन पात्रों और आख्यानों को इसने उनकी समालोचना करने के लिए लिया है। उनकी उचित सहानुभूति प्राचीन परम्पराओं और पात्रों के साथ है और बुद्ध-कथा में उनका अवतरण केवल इसलिए किया गया है कि सम्पूर्ण प्राग्बुद्धकालीन भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक आदर्शों की पृष्ठभूमि में रखकर बुद्ध-जीवन को समझने की कवि की इच्छा है। उनके द्वारा चित्रित शुद्धोदन को हम आसानी से 'सनातनी' क्षत्रिय राजा कह सकते हैं। "उस त्यागी तपस्वी वाले राजा ने पुत्र के जीवन के लिये स्वयम्भू की पूजा की, जप किया और आदि युग में प्रजा सृजन करने की इच्छा वाले स्रष्टा के समान दुष्कर कर्म किये"।[1] "उसने त्रिविध प्रकार का धर्म किया, सज्जन जिसका पालन करते हैं और जो श्रुति से सिद्ध है।" "एवं स धर्मं त्रिविधं चचार सद्भिर्निपातं श्रुतितश्च सिद्धम्"।[2]

को जानने वाले तथा छह कर्मों मे रत रहने वाले ब्राह्मणो से अपनी शान्ति और वृद्धि के लिए वहा जप करवाया"।[1] अराड मोक्षवादी ऋषि थे[2] और स्वयं शुद्धोदन ने परम ब्रह्म (वेद) का अध्ययन किया था।[3] इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते है।

महाकवि अश्वघोष का प्राचीन पुराणेतिहास-सम्बन्धी ज्ञान इतना विस्तृत था कि किसी एक प्रसंग या परिस्थिति के वर्णन मे वे धडाधड सम्पूर्ण प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा को ही उद्धृत करते चले गये है। दृष्टान्तो की मालाए एक के बाद एक आती जाती है, जिनसे उनके प्रभूत ऐतिहासिक और पौराणिक ज्ञान का परिचय मिलता है। उदाहरणतः देखिए सिद्धार्थ के जन्म पर जब ब्राह्मणो के यह कहने पर कि यह बालक पूर्व के ऋषियो के द्वारा अप्राप्त सत्य को प्राप्त करेगा शुद्धोदन ने यह शंका की कि जिसे पूर्व के महात्मा प्राप्त नही कर सके उसे यह बालक किस प्रकार प्राप्त करेगा, तो ब्राह्मणो ने उसे इन पूर्वकालीन दृष्टान्तो से आश्वस्त किया—

"हे सौम्य! वश चलानेवाले भृगु और अंगिरा नामक ऋषियो ने जिस राज-शास्त्र को नही बनाया, उसे उनके पुत्र शुक्र और बृहस्पति ने समय बीतने पर सृजन किया।

'(सरस्वती के पुत्र) सारस्वत ने नष्ट हुए वेद को कहा, जिसे पूर्व के लोगो ने नही देखा, व्यास ने इसे कई भागो मे किया, जिसे शक्ति-हीन वसिष्ठ नही कर सके थे।

"आदि काल मे वाल्मीकि ने पद्य सृजन किया, जिसे महर्षि च्यवन नही कर सके थे, और जिस चिकित्सा-शास्त्र को अत्रि ने सृजन नही किया, उसे बाद में आत्रेय ऋषि ने कहा।

'हे राजन्! जिस द्विजत्व को कुशिक ने नही पाया, उसे गाधि-

---

१. सौन्दरनन्द १।४४।

२. सौन्दरनन्द ३।३, मिलाइये बुद्ध-चरित ७।५४

३. अध्यैष्ट य. पर ब्रह्म। सौन्दरनन्द २।१२; वेदश्चाम्नायि सततं वेदोक्तो धर्म एव च। वहीं २।४४

पुत्र (विश्वामित्र) ने प्राप्त किया, और सगर ने सागर की वेला निश्चित की, जिसे प्रथम इक्ष्वाकु नही बाध सके थे।

"योग-विधि मे द्विजो के आचार्य होने का जो पद दूसरो को प्राप्त नही हुआ, उसे जनक ने पाया। शौरि ने जो विख्यात कार्य किये, उन्हे करने मे सूर आदि असमर्थ हो चुके थे।

"इसलिए न अवस्था प्रमाण है और न वश। संसार मे कोई भी कही भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है, क्योकि राजाओ और ऋषियो के पुत्रो ने वे काम किये है, जिन्हे उनके पूर्वज नही कर सके थे।"[1] कितनी महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक इतिहास की सामग्री इन दृष्टान्तो मे भरी पडी है, बताने की आवश्यकता नही।

स्त्रियो की ओर से सिद्धार्थ उदासीन थे। पुरोहित-पुत्र उदायी स्त्रियो को झिडकता हुआ कह रहा है कि वे क्यो नही सिद्धार्थ को विमोहित करने मे सफल होती ? 'तुम लोग वीतराग ऋषियो को भी चलायमान कर सकती हो और देवो को भी आकृष्ट कर सकती हो। यद्यपि यह धीर वडा ही श्रीमान् और प्रभाववान् हो सकता है, परन्तु स्त्रियो का भी तेज महान् है। स्त्रियो के तेज के उदाहरण देते हुए कहता है—

"प्राचीन काल मे काशि-सुन्दरी नामक वेश्या ने महर्षि व्यास को, जो देवताओ के लिए भी दुर्धर्ष थे, पाव से मारा।

"पूर्व काल मे जङ्घा नामक वेश्या से सम्भोग करने की इच्छा से और उसे प्रसन्न करने की इच्छा से, मन्थाल गौतम ने उसके धन के लिए लाशो को ढोया।

"दीर्घतपस् नामक महर्षि को, जो दीर्घकाल तक जीवन धारण कर चुका था, नीच वर्ण व स्थिति की स्त्री ने सन्तुष्ट किया।

"उसी प्रकार मुनि-तनय ऋष्यशृंग को, जो स्त्रियो के विषय मे अज्ञानी था, शान्ता विविध उपायो से पकड़ कर ले गई।

"महा तपस्या मे अवगाहन करने पर भी महर्षि विश्वामित्र घृताची अप्सरा के द्वारा हरण किये गये और उन महर्षि ने उसके साथ विताये

---

१. बुद्ध-चरित ४।४१–४६

दस वर्षो को एक दिन माना।

"इस प्रकार उन-उन आद्य ऋषियो को स्त्रियो ने विकृत किया। फिर राजा के सुन्दर और तरुण पुत्र का क्या कहना [1]?" जब स्त्रियां प्रयत्न करने पर भी सिद्धार्थ को विमोहित नही कर पाती, तो उदायी अपने मित्र सिद्धार्थ को समझाता है कि विषयो का तिरस्कार करना अच्छा नही। उसके ऐतिहासिक उद्धरणो की समृद्धि को देखिये—

"प्राचीन काल मे काम को श्रेष्ठ जानकर इन्द्रदेव ने गौतम मुनि की पत्नी अहल्या को चाहा।

"अगस्त्य ऋषि ने सोम की भार्या रोहिणी के लिये प्रार्थना की। इस कारण उसने उसी रोहिणी के सदृश लोपामुद्रा पाई, ऐसी अनुश्रुति है।

"उतथ्य की भार्या, मरुत की पुत्री ममता मे, महा तपस्वी बृहस्पति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया।

"हवन करने वाली बृहस्पति की पत्नी मे, हवन करने वालो में श्रेष्ठ चन्द्रमा ने, बुध को उत्पन्न किया, जिसके कर्म देवताओ के से थे।

"पूर्व काल मे काम-वासना उत्पन्न होने पर पराशर ऋषि यमुना-तट पर मछली से उत्पन्न हुई कन्या काली के पास गये।

"रमण करने की इच्छा से वसिष्ठ मुनि ने निन्दित चाण्डाल जाति की कन्या अक्षमाला मे कपिञ्जलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया।

"उम्र ढलने पर भी राजर्षि ययाति ने विश्वाची अप्सरा के साथ चैत्ररथ वन मे रमण किया।

"स्त्री-संसर्ग को विनाशकारी जानकर भी कुरुवशी पाण्डु ने माद्री के रूप-गुण से आकृष्ट होकर कामज सुख का सेवन किया।

"कराल जनक ने ब्राह्मण-कन्या का हरण किया और इस प्रकार भ्रष्ट होकर भी वह काम मे आसक्त ही रहा।

"इस प्रकार आद्य महात्माओ ने रति के हेतु निन्दित विषयो का

---

१ बुद्ध-चरित ४।१६-२१

भी उपभोग किया, निर्दोष विषयो का तो कहना क्या ?"[१]

शुद्धोदन के मन्त्री और पुरोहित वन मे जाकर सिद्धार्थ को समझाते है। पहले उनके पारस्परिक स्वागत-समारोह का वर्णन सुनिये.

"उन दोनो ने उसकी उचित पूजा की जैसी स्वर्ग मे शुक्र और आङ्गिरस (बृहस्पति) ने इन्द्र की, और उसने उन दोनो की उचित पूजा की जैसे स्वर्ग मे इन्द्र ने शुक्र और आङ्गिरस की।'[२] मन्त्री और पुरोहित समझाने लगे —

"धर्म केवल वन मे ही सिद्ध नही होता, नगर मे भी यतियो की सिद्धि नियत है। पहले वसुधा के आधिपत्य का भोग करो, फिर शास्त्र-सम्मत समय पर वन जाना। मुकुट धारण करने वाले राजाओ ने, जिनके कन्धो से हार लटकते थे और जिनकी भुजाए केयूरो से बधी थी, गृहस्थ होकर भी, लक्ष्मी की गोद में लोटते हुए भी, मोक्ष-धर्म प्राप्त किया।

"ध्रुव के दो छोटे भाई वलि और वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ और अन्तिदेव, विदेहराज जनक, द्रुम और सेनजित् राजा-गण, ये सब गृहस्थ राजा परम कल्याणकारी धर्म-विधि मे शिक्षित थे। इसलिए एक ही साथ ज्ञान के आधिपत्य व राज्यलक्ष्मी, दोनो का सेवन करो।"[३]

"गंगा के उदर से उत्पन्न भीष्म ने, राम (दाशरथि) ने, भार्गव राम (परशुराम) ने, पिता के प्रिय के लिए जो काम किया, यह सुनकर तुम्हे भी पिता का इष्ट करना चाहिए।"[४]

पूर्व मे भी लोग वन से अपने घर गये है, इसके सम्बन्ध मे उदाहरण देता हुआ मन्त्री सिद्धार्थ से कहता है—

"तपोवन मे रहने पर भी राजा अम्बरीप प्रजाओ से घिर कर नगर को गया। उसी प्रकार अनार्यो से सताई गई पृथ्वी की रक्षा राम ने वन से आकर की।

---

१ बुद्ध-चरित ४।७२-८१

२. बुद्ध-चरित ६।१०

३. बुद्ध-चरित ६।२०-२१

४ बुद्ध-चरित ६।२५

"उसी प्रकार द्रुम नामक शाल्वराज ने पुत्र के साथ वन से नगर मे प्रवेश किया और ब्रह्मर्षिभूत सांकृति अन्तिदेव ने मुनि वसिष्ठ से राज्यलक्ष्मी ग्रहण की।"[१]

विपयो मे तृप्ति नही है, इसके सम्बन्ध मे तपस्वी शाक्यकुमार राजा बिम्बिसार से कहते है—

"देव द्वारा सुवर्ण-वृष्टि किये जाने पर भी, चारो समग्र द्वीपो को जीतकर भी और इन्द्र का आधा आसन पाकर भी, मान्धाता को विषयो मे तृप्ति नही हुई।

"वृत्र के भय से इन्द्र के छिपने पर, स्वर्ग मे देवताओ का राज्य भोगकर भी, दर्प से महर्षियो द्वारा अपने यान को वहन करवा कर, काम में अतृप्त नहुष नरक मे गिरा।

"राजा ऐड (इडा का पुत्र) स्वर्ग मे प्रवेश कर, उस देवी उर्वशी को वश मे लाकर भी, लोभ वश ऋषियो से सुवर्ण हरण करने की इच्छा से, विपयो मे अतृप्त रहकर नाश को प्राप्त हुआ।

"जो विषय बलि से महेन्द्र के पास, महेन्द्र से नहुष के पास, फिर नहुष से महेन्द्र के पास गये, उन विषयो मे, स्वर्ग मे या पृथ्वी पर, कौन विश्वास करे?"[२]

साख्याचार्य अराड ने सिद्धार्थ के सामने अपने दर्शन का विवेचन करने के बाद उनसे कहा था—

"जैगीषव्य, जनक, वृद्ध पराशर और दूसरे मोक्ष-प्राप्त महात्मा इस मार्ग से चलकर मुक्त हुए"।[३]

राजा प्रसेनजित् को राजधर्म का उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने उसे यह दृष्टान्त सुनाया था—

"इस ससार में धर्मानुसार राज्य की रक्षा करने वाले कृशाश्व ने स्वर्ग प्राप्त किया, जबकि इस ससार मे मोहवश धर्म से विमुख

---

१. बुद्ध-चरित ९।६९-७०

२. बुद्ध-चरित ११।१३-१६

३ बुद्ध-चरित १२।६७

: १८ :

निचिरेन् : जापानी बौद्ध सन्त

जापानी लोगो की परम्परागत धारणा है कि बौद्ध धर्म का विकास उसके तीन क्रमिक रूपो मे हुआ है। पहला रूप है, जिसे वे 'परिपूर्ण धर्म' कहते है। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के वाद एक हजार वर्ष तक उनके शिष्य-प्रशिष्यो की परम्परा ने धर्म के सर्वाङ्गीण रूप का पालन किया। उनके जीवन मे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश था। उसके बाद 'अनुकृत धर्म' का युग आया। इस युग मे धर्म का आचरण न कर लोगो ने उसका अनुकरण मात्र किया। चैत्यो और विहारो की स्थापना इसी युग मे की गई। 'अनुकृत धर्म' का युग एक हजार वर्ष तक चला। इसके बाद 'परवर्ती धर्म' का युग आया। इस युग की अवधि दस हजार वर्ष है, जो अव भी चल रही है। यह युग धर्म और नीति के आत्यन्तिक ह्रास का है। जापानी परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण ९४९ पू० हुआ, अत उसमे दो हजार वर्ष जोड देने पर १०५१ ई० उनके मतानुसार 'परवर्ती धर्म' के आरम्भ होने का समय है। भारत मे तो इस समय तक बौद्ध धर्म प्राय लुप्त ही हो चुका था। जापानी इतिहास मे भी यह तिथि एक भावी भय और आशका की सूचना लेकर आई थी, यह उसके इतिहासकारो का सामान्य मत है।

जापान मे छठी शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग मे बौद्ध धर्म के साथ ही सभ्यता का प्रवेश हुआ। भारत-चीन-कोरिया-जापान, यही वहा सद्धर्म के पहुचने का क्रम था। थोडे ही समय मे बौद्ध धर्म जापान का राज-धर्म हो गया और जनता के हृदय मे उसने जड़े जमा ली। ५०० ई० से ८०० ई० तक का समय जापान मे बौद्ध धर्म के स्थापित होने का युग है। सन् ८०० ई० से लेकर १००० ई० तक बौद्ध धर्म

स्वय बुद्धत्व का साक्षात्कार करने की गहरी लालसा उनमें जगी। इसके लिए अध्ययन, खोज और साधना की जितनी आवश्यकता थी, सब उन्होने की। ध्यान भी किया, अमित बुद्ध का नाम भी जपा, किन्तु शान्ति नही मिली। अपनी इस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है, "मेरी सदा से यह इच्छा थी कि बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए वीज बोऊ तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करू। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैने अपने अनेक वौद्ध भाइयो की तरह अमित बुद्ध के नाम का श्रद्धापूर्वक जप किया, किन्तु थोडे ही दिन वाद सन्देह मेरे अन्दर घुसने लगे और मैने निश्चय किया कि जापान मे बौद्ध धर्म की जितनी शाखाए प्रचलित है, उन सवका मै अध्ययन करूंगा और उनके विभिन्न सिद्धान्तो को अच्छी तरह हृदयगम करूगा।" बुद्ध का अपना मत क्या था, यही निचिरेन् की समस्या थी, जिसे वे प्रचलित बौद्ध धर्म के विभिन्न रूपो के अध्ययन के द्वारा हल करना चाहते थे।

बौद्ध धर्म का मौलिक सत्य क्या है ? जिस सत्य को शाक्यमुनि ने सिखाया है, उसका मौलिक रूप क्या है ? इसी की खोज के चारो ओर निचिरेन् की विचार-धारा घूम रही थी। जैसे-जैसे उन्होने ज्ञान की खोज की, उन्हे यह निश्चय होने लगा कि सत्य एक ही है और न केवल बौद्ध धर्म के, बल्कि मानव-जीवन के तत्वो मे भी विभिन्नता नही है। इसीको व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा है, "बौद्ध धर्म का सत्य क्या है, इस की खोज मे बीस वर्ष तक मै बौद्ध धर्म के अनेक केन्द्रो मे घूमता रहा। अन्त मे मै इस निष्कर्ष पर पहुचा कि मूलत बौद्ध धर्म का सत्य एक ही होना चाहिए।" दस वर्ष इसी प्रकार खोज और चिन्तन मे और बीत गये। तीस साल के गहरे चिन्तन के वाद निचिरेन् को भान हुआ कि उन्हे सच्ची वस्तु हाथ लग गई है। एक दिन विहार के समीपस्थ पहाड की चोटी पर से प्रशान्त महासागर की ओर से उदय होते हुए बाल-रवि की ओर दृष्टि जमाये हुए, ध्यानस्थ भिक्षु ने पर्वत को अपनी वाणी से शब्दायमान करते हुए उच्चारण किया, "नमु—म्योहो—रेङ्गे—क्यो" अर्थात् "नम. सद्धर्मपुडरीकाय।" यही महात्मा

शाक्यमुनि देते दिखाये गये है।' बुद्ध करुणा के वशीभूत होकर अनेक रूपो मे इस जगत् मे अवतरित होते है, यह विचार भी यहा विद्यमान है। अत भक्ति के उद्गम की दृष्टि से इस महायान-सूत्र का बहुत महत्व है। 'सद्धर्मपुडरीक सूत्र' के मूल सस्कृत रूप का सम्पादन सेत पीतरबुर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद) से सन् १९१२ मे हुआ था। 'सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट' ग्रन्थमाला (सख्या २१) मे उसका अग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। यह प्रसन्नता की बात है कि 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' का देवनागरी संस्करण डा० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित होकर एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से सन् १९५३ मे प्रकाशित हो गया है।

'सद्धर्मपुडरीक' निचिरेन् के लिए केवल एक ग्रन्थ मात्र नही था। 'सद्धर्मपुडरीक' को नमस्कार करने का तात्पर्य था उनके लिए उस परिपूर्ण सत्य को नमस्कार करना, जो वहा प्रकट हुआ है। इस विषय मे अपनी भावना प्रकट करते हुए उन्होने लिखा है, "इस धर्म-ग्रथ के सारे अक्षर भगवान् बुद्ध के जीवित शरीर है, जिसे उन्होने परिपूर्ण ज्ञान की अवस्था मे प्रकट किया है। यह तो हमारे चर्म-चक्षु है, जिन्हे यहा केवल अक्षर दिखाई पडते है। जैसे प्रेतो को गगा के जल मे भी आग दिखाई देती है, जबकि मनुष्य उसमे जल देखते है और देव देखते है अमृत। जल तो एक ही है, किन्तु प्रेत, मनुष्य और देवताओ के विभिन्न कर्मो के कारण उन्हे उसमे भिन्न-भिन्न वस्तुए दिखाई देती है। इसी प्रकार जो अन्धे है, वे इस धर्म-ग्रथ के अक्षरो मे कुछ नही देखते। मनुष्य की चमडे की आखे इसमे केवल अक्षर देखती है। जो शून्यवाद से परितृप्त है, वे इसमे केवल शून्यवाद देखते है, जबकि बोधिसत्त्व प्राणी (बुद्धत्व को खोजने वाले साधक) इसमे गम्भीर, अपरिमेय सत्यो को देखते है और जो ज्ञान को प्राप्त कर चुके है, वे इसके प्रत्येक अक्षर मे देखते है भगवान् शाक्यमुनि के स्वर्णिम शरीर को"। इस गहरी श्रद्धा के साथ 'सद्धर्मपुडरीक' मे निहित बुद्ध-मन्तव्य को प्रचारित करने का निचिरेन् ने निश्चय किया। इसके लिए उन्हे विरोध भी काफी सहना पडा। जिस दिन प्रात काल निचिरेन् ने सूर्य को साक्षी

ने उनकी झोपडी मे आग लगा दी। सरकार भी पीछे न रही। उसने निचिरेन् पर शाति-भग का आरोप लगाकर उन्हे इजू नामक प्रायद्वीप मे निर्वासित कर दिया। उनका जीवन निरन्तर सकट मे बीता और कई बार मृत्यु से बाल-बाल बचे। एक निर्धन मछुए और उसकी पत्नी ने यहा निचिरेन् की बडी सेवा की, जिसके लिए कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन्होने उन्हे अपने पूर्व जन्म के मा-बाप कहा है। इजू प्रायद्वीप की भोली-भाली ग्रामीण जनता पर निचिरेन् के उपदेशो का बडा प्रभाव पडा और काफी सख्या उनके अनुयायियो की हो गई। धर्मोपदेश के लिए इधर-उधर घूमते हुए स्वतन्त्रचेता निचिरेन् को कभी-कभी रात आश्रयहीन अवस्था मे बितानी पडती थी।

निचिरेन् को इजू प्रायद्वीप मे निर्वासित हुए तीन वर्ष भी नही हुए थे कि उन्हे सरकारी आज्ञा से मुक्त कर दिया गया। सरकार को आशा थी कि निचिरेन् का जोश ठडा हो गया होगा, परन्तु बात ऐसी नही हुई। इसी समय एक और घटना घटी। सन् १२६८ ई० मे मगोल सम्राट् कुब्ले खान् का एक दूत जापानी तट पर उतरा और कर-दान या भावी आक्रमण की सूचना दी। निचिरेन् इस सम्बन्ध मे आठ वर्ष पहले ही जापानी शासको और जनता को चेतावनी दे चुके थे। अब कुब्ले खान् के दूत के आने पर वे सीधे कामाकुरा गये और सरकार से साफ शब्दो मे कहा, "आठ वर्ष पहले दी गई मेरी चेतावनी को स्मरण करो। क्या अब यह पूरी नही हो रही है ? क्या निचिरेन् के सिवा और कोई दूसरा आदमी है, जो इस राष्ट्रीय आपदा को टाल सकता है ? केवल वही जो वास्तविक कारण को जानता है, इस परिस्थिति को वश मे कर सकता है।" सरकार को निचिरेन् की कहा सुननी थी ? उल्टे उन्हे देश-द्रोह के अभियोग में पकड लिया गया और मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी गई। निचिरेन् के वध के लिए सब वस्तुए तैयार थी। चारो ओर से सिपाही घेरा लगाये हुए थे। साक्षी अफसर कुर्सी पर बैठा हुआ था। उसके पीछे जल्लाद खडा था। तिनको की एक चटाई पर भिक्षु निचिरेन् बैठे हुए थे, उनके दोनो हाथ अजलि-बद्ध थे और वे उच्चारण कर रहे थे, "नमु म्यो-हो-

अनागामी की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

"(२१) दूसरे की स्त्री पर दृष्टि न डालो। यदि तुम्हे कोई स्त्री दिखाई पड जाय, तो आयु के अनुसार उसे मा, बहिन या बेटी की तरह समझो।

"(२४) क्षणिक, चचल छह इन्द्रियो को जीतने वाला और युद्ध-स्थल मे अपने शत्रु-समूह पर विजय प्राप्त कर लेने वाला, इन दोनो मे ज्ञानी लोग प्रथम को ही बडा वीर समझ कर उसकी प्रशसा करते है।

"(२६) तुम इस ससार को जानते हो। इसलिए इसके लाभ और अलाभ, सुख और दु ख, मान और अपमान, स्तुति और निन्दा, इन आठ लौकिक वस्तुओ मे समान चित्त से रहो।

"(३७) किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) को तुम अपने परिवार की अधिष्ठात्री देवी समझ कर सम्मान करना, क्योकि वह बहिन की भाति सरल, मित्र की भाति विजयिनी, माता की भाति हित की काक्षिणी और सेवक की भाति आज्ञाकारिणी है।

"(४०) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की सतत भावना करो। इससे तुम्हे अधिक उच्चतर अवस्था की प्राप्ति न भी हो तो कम से कम ब्रह्म-विहार मे तुम्हारी स्थिति सुनिश्चित है।

"(४१) काम-विचार, प्रीति, सुख और दु ख को छोडकर तुम चार ध्यानो की भावना करो। इसके फल-स्वरूप तुम ब्रह्म-भाव मे प्रतिष्ठित होगे।

"(४६) जब तुम कहते हो कि 'मै रूप नही हू,' तो इससे तुम्हे समझना चाहिये कि 'मै रूपवान् नही हू', 'रूप मुझमे नही है', 'मै रूप मे नही हू', 'रूप मेरा नही है'। इसी प्रकार वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार के सम्बन्ध मे भी तुम्हे समझना चाहिए।

"(५०) ये स्कन्ध न इच्छा से, न काल से, न प्रकृति से, न स्वभाव से, न ईश्वर से उत्पन्न होते है और न बिना हेतु के ही उत्पन्न होते है।

"(५१) जानो कि धार्मिक कर्मकाण्ड मे लगे रहना, मिथ्या-दर्शन और संशय, ये तीन बेडिया है।

"(५३) उत्तरोत्तर उच्च शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास

बच गया। 'शिङ् -गोन् मतवादी देवताओ की इस कृपा के लिए अनेक रहस्यवादी कर्मकाड रचने लगे और जितना वेतन युद्ध-क्षेत्र पर लडने-वाले सिपाहियो को नही मिला था, उससे अधिक दक्षिणाए पुरोहितो ने प्राप्त की। जापान मे उस समय अन्धविश्वास का काफी बोल-बाला था। मगोलो से बच जाने को निचिरेन् जापान का वास्तविक बच जाना नही मानते थे। सभी अन्धविश्वास से जापान को मुक्त होकर भगवान् शाक्यमुनि के मार्ग को पूर्णत अपनाना चाहिए। जापान की पूर्ण विमुक्ति को वे बौद्ध धर्म की पूर्ण स्वीकृति मे मानते थे। "सबसे बडी बात जापान मे इस सत्य-द्वार (बौद्ध धर्म) की पूर्ण स्थापना है। एक दिन या एक घटे के लिए भी देश कैसे सुरक्षित रह सकता है, जब तक कि भगवान् शाक्यमुनि, गृध्रकूट पर्वत के उपदेष्टा, अपनी दृश्य और अदृश्य सहायता और रक्षा इस देश को न दे।" उनका स्वप्न था कि जापान विश्व मे बौद्ध धर्म के प्रचार का केन्द्र बनेगा और बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि भारत मे भी वह वहा से जायगा। चीन और जापान की एक परम्परा के अनुसार भारत 'इन्दु देश' कहलाता है। उसको इसी नाम से पुकारते हुए महात्मा निचिरेन् कहते है, "भारत 'इन्दु-देश' कह-लाता है। यह इस देश मे भगवान् बुद्ध के उदय होने सम्बन्धी भविष्य-वाणी का सूचक है। हमारा द्वीप 'जापान' अर्थात् 'सूर्योदय का देश' कहलाता है। क्या यही वह देश नही है, जहा भगवान् बुद्ध आगे पैदा होगे ? सूर्य पूर्व मे उदय होकर पश्चिम मे अस्त होता है। यह इस बात का लक्षण है कि बुद्ध का धर्म 'सूर्योदय के देश' (जापान) से फिर 'इन्दु के देश' (भारत) मे वापस जायगा।"

महात्मा निचिरेन् ने १२७२ ई० मे 'आखो का खोलना' नामक एक निबन्ध लिखा, जिसमे उन्होने अपने देशवासियो से कनफूसी धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए अनुरोध किया। इस महत्वपूर्ण निबन्ध का पहला वाक्य है—"तीन वस्तुएं मनुष्य के लिए सम्माननीय हैं—अपना स्वामी, अपना गुरु और अपने माता-पिता। इसी प्रकार तीन विषय उसके लिए अध्ययनीय है—कनफूसी धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म।" एक और जगह उन्होने लिखा है,

पुरुष, निचिरेन्, का निवास-स्थान है, जो रहस्यात्मक रूप से 'सद्धर्म-पुडरीक' को अपने जीवन में साक्षात्कार कर रहा है । अत. सचमुच यह स्थान भी गृध्रकूट पर्वत से कम पवित्र नही है । सत्य महान् है । जो सत्य का साक्षात्कार करता है, वह भी महान् है । जिस जगह सत्य का साक्षात्कार किया जाता है, वह जगह भी महान् है, क्योकि इस प्रकार की जगह को ही वह स्थान मानना चाहिए, जहा सम्पूर्ण तथागतो ने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है, उसी जगह पर सम्पूर्ण तथागतो ने धर्म-चक्र को प्रवर्तित किया है, उसी जगह पर सम्पूर्ण तथागतो ने महापरि-निर्वाण मे प्रवेश किया है ।" इसी भाव को व्यक्त करते हुए उन्होने सूत्रात्मक रूप से एक अन्य जगह कहा है, "भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में जिन सत्यो को प्रकट किया, उन सबका अस्तित्व हमारे अन्दर है । यदि इसको तुम जान लो तो तुम्हे आत्म-ज्ञान प्रकट हो गया ।" इस तथा इस प्रकार के अन्य अनेक उद्गारो मे महात्मा निचिरेन् ने ज्ञान की उस अद्वैत अवस्था की ओर संकेत किया है, जहां आत्मा, बुद्ध और सम्पूर्ण सत्ता मिलकर एक हो जाती है, जिसके अलावा और कुछ अस्तित्व नही रहता । इस वेदान्तिक भावना को और भी अधिक स्पष्ट उन्होने अपने एक पत्र में, जिसे उन्होने अपनी एक शिष्या भिक्षुणी को लिखा था, किया है । पत्र के अन्त मे वे लिखते है, "जब तुम निचिरेन् को देखने की इच्छा करो तो आदर के साथ उदय होते हुए सूर्य की ओर देखो या सध्या समय निकलते हुए चन्द्रमा को देखो । मेरा व्यक्तित्व सदा सूर्य और चन्द्र मे प्रतिबिम्बित है । और फिर इसके बाद तो मै तुम्हे गृध्रकूट पर्वत पर मिलूगा ही ।" "यह जो पुरुष सूर्य मे है, वही मै हू "—यह तो उपनिषद् के ऋषि ने कहा था । पर इस अनुभव का सर्वोत्तम साक्ष्य जापानी सन्त निचिरेन् ने ही अपने उपर्युक्त उद्गार मे दिया है । यहा केवल दो मौलिक आध्यात्मिक अनुभवो की समानता की ओर सकेत करना ही हमारा लक्ष्य है । महात्मा निचिरेन् के चरित्र की एक बडी विशेषता थी उनकी कृतज्ञता और पर-दु ख-कातरता । अपने एक सिपाही शिष्य को, जिसने उनके वध-स्थान को ले जाये जाने के समय उनके साथ सहानुभूति दिखाई थी,पत्र मे उन्होने लिखा

वास्तव में मैं सदा जीवित हूं।

मै सदैव यह देखता रहता हूं कि प्राणी सन्मार्ग के प्रति श्रद्धालु है कि नहीं।

और मै सत्य को अनेक रूपों में उन्हें उपदेश करता हूं, उनकी अलग-अलग शक्ति और धारणा के अनुसार, उनके निर्वाण के लिए।

अब मेरी केवल एक ही इच्छा है—

किस प्रकार सब प्राणी कल्याणकारी मार्ग पर लगे और शीघ्र ही बोधि का साक्षात्कार करे।"

: १६ :

नागार्जुन और उनका 'सुहृल्लेख'

नागार्जुन का नाम भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास मे अपनी तेजस्विता लिए हुए है। शून्यवादी आचार्य के रूप मे उनकी कीर्ति-कथा भारत मे ही नही, चीन, तिब्बत और मगोलिया के इतिहास-पृष्ठो मे लिखी जाती है। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के वह एक विस्मयकारी साधक और विचारक है। महायान बौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा के वे प्रतिष्ठापक आचार्य है। वैद्य और तान्त्रिक, उद्भट विचारक और तार्किक, कवि और सार्वभौम विद्वान्, साधक और मानवताप्रेमी, नागार्जुन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से भारत और अन्य कई देशो की साधना-भूमिया आलोकित है।

युआन् चुआङ् (सातवी शताब्दी) ने उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के चार प्रतिभाशाली आचार्यो का उल्लेख किया है, जिन्हे उसने 'ससार को आलोकित करने वाले चार सूर्य' कहा है। इनमे एक आचार्य नागार्जुन है। शेष तीन है अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध या कुमारलात। आचार्य नागार्जुन के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे हमे निश्चित

कनिष्क के समकालीन थे। परन्तु अन्य अनेक प्रमाणो से यह निश्चित है कि नागार्जुन आध्र राजा यज्ञश्री गौतमीपुत्र (१६६-१९६ई०) के समकालीन थे। आन्ध्र राजाओ की पदवी 'सातवाहन' (श-तो-पो-ह) थी। इन राजाओ ने ईसवी-पूर्व दूसरी शताब्दी से तृतीय शताब्दी ईसवी तक राज्य किया। जैसा हम अभी देखेगे, अपने 'सुहृद्' सातवाहन-राजा के लिये पत्र के रूप मे नागार्जुन ने अपनी एक रचना 'सुहृल्लेख' लिखी थी, जिसका परिचय हम अभी देगे।

नागार्जुन के विषय मे अनेक आश्चर्यजनक किवदन्तिया प्रचलित है। कहा जाता है कि चिरायुष्य का रहस्य उन्हे ज्ञात था। कुमारजीव के वर्णनानुसार वे ३०० वर्ष तक जीवित रहे, जबकि तिब्बती वर्णनो ने उन्हे ६०० वर्ष की आयु दी है। एक अन्य परम्परा के अनुसार उनकी आयु ५२९ वर्ष बताई जाती है। चट्टानो को स्वर्ण मे परिवर्तित कर देने का श्रेय भी नागार्जुन को दिया जाता है। नेत्र-चिकित्सक के रूप मे उनकी ख्याति उनके जीवन-काल मे ही चीन मे पहुच गई थी। नेत्र-रोगो पर लिखी हुई उनकी पुस्तक 'येन्-लुन्' चीनी भाषा मे पाई जाती है। 'नागार्जुन बोधिसत्त्व के नुसखे' (लुग्-शु-पु-स-यओ-फेग्) नामक पुस्तक भी चीनी भाषा मे मिलती है। नायार्जुन के जीवन की एक स्मरणीय घटना देव या आर्य देव का उनसे मिलना है, जो बाद मे उन के शिष्य और उनके दर्शन को आगे बढाने वाले प्रसिद्ध आचार्य हुए। आर्यदेव सिहल (या उत्तर भारत मे सिहपुर) के निवासी थे। ना ा-र्जुन की ख्याति सुनकर उनके पास मिलने आए। नागार्जुन ने मिलने से पूर्व अपने एक शिष्य के हाथ अपने भिक्षा-पात्र को जल से भरवाकर आर्यदेव के पास भिजवा दिया । आर्यदेव ने उसमे एक सुई डालकर उसे लौटा दिया। नागार्जुन बहुत प्रसन्न हुए । बाद मे आर्यदेव से मिले और उन्हे शिष्यत्व प्रदान किया। नागार्जुन का जल से भरा पात्र इस बात का द्योतक था कि उनका ज्ञान जल से भरे बर्तन की तरह परिपूर्ण है। आर्यदेव ने उसमे सुई डालकर यह जतला दिया कि वे उस सब का अवगाहन कर चुके है। इस गूढ अभिप्रायमयी अभिव्यक्ति के ढग की अनेक व्यजनात्मक घटनाए हमे कबीर, नानक आदि सन्तो की

जीवन-स्मृतियो मे मिलती है और चीन और जापान के ध्यान-सम्प्रदाय के साधको की तो यह एक आकर्षक और मौलिक परिपाटी ही रही है, जिसका अध्ययन हमे एशियाव्यापी सन्त-परम्पराओ के तुलनात्मक रूप को समझने के लिये करना चाहिए।

नागार्जुन के नाम से लिखे हुए अनेक ग्रन्थ हमे मिलते है, परन्तु निश्चित रूप से उनके लिखे २० ग्रन्थ हमे चीनी अनुवादो मे सुरक्षित मिलते है, जिनमे से १८ का उल्लेख बुनियो नजियो ने अपने प्रसिद्ध 'केटेलाग' मे किया है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाए बारह है, जो इस प्रकार है—

(१) माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक-शास्त्र (चुग्-कुआम-लुन्)। महायान बौद्ध धर्म के माध्यमिक सम्प्रदाय का यह आधारभूत ग्रन्थ है और इसमे शून्यता के दर्शन का गहन विवेचन किया गया है। नागार्जुन की यह सर्वोत्तम कृति है। २७ प्रकरणो मे विभक्त है।

(२) दश-भूमि-विभाषा शास्त्र (शिह्-चु-पि-पो-श-लुन्)। इसमे वोधिसत्व की दस भूमियो मे से प्रमोदिता और विमला नामक प्रथम दो भूमियो का विवरण है।

(३) महाप्रज्ञापारमिता-सूत्र-कारिका शास्त्र (मो-ह-पो-यो-पो-लो मि-चिग्-शिह लुन्) कुमारजीव ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सन ४०५ ई० मे किया।

(४) उपाय-कौशल्य—न्याय-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(५) प्रमाण विध्वंसन—यह भी न्याय-सम्बन्धी ग्रथ है।

(६) विग्रह-व्यावर्तनी—शून्यवाद का खण्डन करने वाली युक्तियो का खण्डन। इसमे ७२ कारिकाए है।

(७) चतुःस्तव—चार स्तोत्रों का संग्रह।

(८) युक्ति-षष्टिका—शून्यवाद के समर्थन मे साठ युक्तिया।

(९) शून्यता-सप्तति—शून्यता पर सत्तर कारिकाए।

(१०) प्रतीत्य-समुत्पाद-हृदय—प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(११) महायान-विंशक—शून्यवाद का विवेचन।

(१२) सुहृल्लेख—जिसके विषय मे यहा कुछ विस्तार से कहना है।

खेद है कि नागार्जुन की उपर्युक्त रचनाओ मे मे केवल माध्यमिक-कारिका (माध्यमिक-शास्त्र) और विग्रह-व्यावर्तनी ही अपने मूल सस्कृत रूप मे सुरक्षित है। बाकी सब काल-कवलित हो गई है और केवल चीनी और तिब्बती अनुवादो मे ही सुरक्षित हैं। यही हाल नागार्जुन की रचना प्रसिद्ध 'सुहृल्लेख' का है। 'सुहृल्लेख' का पूरा नाम है 'आर्य-नागार्जुन-बोधिसत्त्व-सुहृल्लेख'। 'सुहृल्लेख' के तीन चीनी और एक तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। चीनी भाषा मे'सुहृल्लेख'का पहला अनुवाद गुणवर्मा ने ४२४-४३१ ई० में किया। दूसरा अनुवाद सघवर्मा द्वारा सन् ४३३ ई० के लगभग किया गया इ-त्सिग् ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद सन् ७०० ई० के लगभग किया। इस प्रकार चीनी भाषा मे 'सुहृल्लेख' के तीन अनुवाद किये गये। इ-त्सिग् ने लिखा है कि उसकी भारत-यात्रा के समय इस देश के प्रत्येक बालक को 'सुहृल्लेख' कण्ठस्थ होता था और वडी आयु के पुरुष वडी श्रद्धा से इसका अध्ययन-मनन करते थे। इतने प्रभूत नैतिक महत्त्व वाली रचना आज अपने मूल सस्कृत रूप मे सुरक्षित नही है, यह वडे दु ख की वात है। तिब्बती अनुवाद के आधार पर एच० वेंजल ने 'जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी', १८८६, मे इस रचना का अग्रेजी अनुवाद किया था। जर्मन अनुवाद भी इस महत्वपूर्ण रचना का सन् १८८६ मे हो चुका है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई भारतीय विद्वान् सीधे तिब्बती या चीनी अनुवाद से 'सुहृल्लेख' का सस्कृत और हिन्दी मे फिर रूपान्तर करे, और इस देश के बालको और बडी आयु वालो के लिए उसे सुलभ वनाये।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'सुहृल्लेख' को नागार्जुन ने अपने एक मित्र को पत्र के रूप मे लिखा था और यह मित्र था सातवाहन (श-तो-पो-ह), जिसे यज्ञश्री गौतमी-पुत्र से अभिन्न माना गया है, जिसके विषय मे पहले कहा जा चुका है। नागार्जुन का यह एक वडा दुर्भाग्य है कि उनके शून्यता-दर्शन को इस देश मे कभी उसके ठीक रूप मे नही समझा गया। उनके साहित्य की विलुप्ति भी इसका एक कारण रही है। आचार्य शकर तक ने शून्यवाद को 'वैनाशिक समय' (उच्छेदवादी सिद्धान्त) कहकर उसके विवेचन तक के लिए आदर प्रदर्शित नही

किया है। अपने युग की सीमाओ से शकर वधे हुए थे और उनके लिए यह मम्भव नही था कि वे नागार्जुन की कृतियो मे पूर्ण अवगति प्राप्त कर मकते। वस्तुत नागार्जुन द्वारा प्रनिपादित शून्यवाद अभावात्मक और विनाशात्मक नही है, उसने केवल (वेदान्त दर्शन मे कुछ आगे बढ कर, शकर-पूर्व युग मे) यह दिखाया है कि बुद्धि द्वारा किया हुआ सब चिन्तन सविकल्प और सापेक्ष होता है और परमार्थ-सत्य उसकी पकड में नही आ मकता। दार्शनिक विवेचन के मोह को छोड कर हम केवल यहा यह दिखाना चाहेंगे कि शून्यवाद की नीव नैतिकता पर प्रतिष्ठित है। वह मवका विनाश नही चाहता, मवको मिथ्या वनाकर उडाना नही चाहता। उसके लिये जीवन मे वहुत कुछ महत्त्वपूर्ण है, वहुत कुछ साधनीय है। वह जो कुछ है, उसके विषय मे उनके दार्शनिक विरोधियो को भी विरोध नही हो सकता। वह अविरोध सत्य है जीवन की विशुद्धि का। इसकी झाकी नागार्जुन द्वारा अपने मित्र को लिखे गये पत्र के इन कतिपय अशो से कीजिए—

"(६) धन चचल और असार है। इसे धर्मानुसार भिक्षुओ, ब्राह्मणो, गरीवो और मित्रो को दो। दान से बढकर दूसरा मित्र नही है।

'(७) निर्दोप, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलक शील को जीवन मे प्रकाशित करो। सभी प्रभुताओ का आधार शील है, जैसे कि चराचर जगत् का आधार पृथ्वी है।

"(८) दान, शील, सन्तोष, उद्योग, ध्यान और ज्ञान सम्वन्धी उत्तम शील का आचरण करो, ताकि भव के उस पार पहुच कर तुम बुद्धत्व प्राप्त कर मको।

"(९) मात्सर्य, शठता, माया, राग, आलस्य, मान, राग और द्वेप को शत्रु-रूप समझो। इसी प्रकार परिवार, शरीर, यश और यौवन सम्वन्धी मद को शत्रु समझो।

"(१५) सन्तोष से अधिक दुर्लभ वस्तु और कोई नही है। क्रोध के लिए अपने जीवन मे कभी अवकाश मत दो। भगवान् वुद्ध ने कहा है कि जो क्रोध को छोड देता है, उसे पुनर्जन्म मे नही आना पडता, वह

अनागामी की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

"(२१) दूसरे की स्त्री पर दृष्टि न डालो। यदि तुम्हे कोई स्त्री दिखाई पड जाय, तो आयु के अनुसार उसे मा, बहिन या बेटी की तरह समझो।

"(२४) क्षणिक, चचल छह इन्द्रियो को जीतने वाला और युद्ध-स्थल मे अपने शत्रु-समूह पर विजय प्राप्त कर लेने वाला, इन दोनो मे ज्ञानी लोग प्रथम को ही बडा वीर समझ कर उसकी प्रशसा करते है।

"(२९) तुम इस ससार को जानते हो। इसलिए इसके लाभ और अलाभ, सुख और दु ख, मान और अपमान, स्तुति और निन्दा, इन आठ लौकिक वस्तुओ मे समान चित्त से रहो।

"(३७) किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी) को तुम अपने परिवार की अधिष्ठात्री देवी समझ कर सम्मान करना, क्योकि वह बहिन की भाति सरल, मित्र की भाति विजयिनी, माता की भाति हित की काक्षिणी और सेवक की भाति आज्ञाकारिणी है।

"(४०) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की सतत भावना करो। इससे तुम्हे अधिक उच्चतर अवस्था की प्राप्ति न भी हो तो कम से कम ब्रह्म-विहार मे तुम्हारी स्थिति सुनिश्चित है।

"(४१) काम-विचार, प्रीति, सुख और दु ख को छोडकर तुम चार ध्यानो की भावना करो। इसके फल-स्वरूप तुम ब्रह्म-भाव मे प्रतिष्ठित होगे।

"(४९) जब तुम कहते हो कि 'मै रूप नही हू,' तो इससे तुम्हे समझना चाहिये कि 'मै रूपवान् नही हू', 'रूप मुझमे नही है', 'मै रूप मे नही हू', 'रूप मेरा नही है'। इसी प्रकार वेदना, विज्ञान, सज्ञा और सस्कार के सम्बन्ध मे भी तुम्हे समझना चाहिए।

"(५०) ये स्कन्ध न इच्छा से, न काल से, न प्रकृति से, न स्वभाव से, न ईश्वर से उत्पन्न होते है और न बिना हेतु के ही उत्पन्न होते है।

"(५१) जानो कि धार्मिक कर्मकाण्ड मे लगे रहना, मिथ्या-दर्शन और संशय, ये तीन बेडिया है।

"(५३) उत्तरोत्तर उच्च शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास

करो। जानो कि प्रातिमोक्ष के १५० नियम सम्पूर्णत इन तीन मे अन्त-र्भावित है।

"(५८) यहा सभी कुछ अनित्य, अनात्म, अ-शरण, अ-नाथ और अ-स्थान है। इसलिए तुम इस तुच्छ केले के तने के समान असार जगत् से विरति धारण करो।

"(१०४) यदि तुम्हारे सिर मे आग लग रही हो और वह सारे कपडो मे फैल जाय, तो तुम उस आग को बुझाने का प्रयत्न करोगे। इसी प्रकार तुम इच्छा को नष्ट करने का प्रयत्न करो। इससे अधिक आवश्यक कार्य और कोई नही है।

"(१०५) शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा शान्त पद निर्वाण को प्राप्त करो, जो अजर और अमर है और जहा न धरती है, न जल, न आग, न हवा, न सूर्य, न चन्द्रमा।

"(१०७) जहा प्रज्ञा नही है, वहा ध्यान भी नही है। जहा ध्यान नही है, वहा प्रज्ञा भी नही है। लेकिन जानो कि जिसमे ध्यान और प्रज्ञा दोनो है, उसके लिये यह भव-सागर रमणीय निकुज जैसा है।"

: २० :

ध्यान-सम्प्रदाय

छठी शताब्दी ईसवी मे एक आदमी हिन्दुस्तान मे चीन मे गया। वह अपने साथ न कोई शास्त्र ले गया और न सूत्र। न उसने कोई ग्रन्थ लिखा और न कभी किसी को कोई धर्मोपदेश ही किया। पहले लोगो ने उसे विक्षिप्त समझा और उसकी उपेक्षा की। उसने भी कभी किसी से समझने योग्य भाषा मे बाते नही की। नौ वर्ष तक वह एक मठ मे ध्यान करता रहा और एक दिन बिना किसी से कुछ कहे-सुने चल दिया। लोगो ने देखा कि साधु पर्वतो के मार्ग मे नगे पैर चला जा रहा है और एक जूता हाथ मे लिए है। पता नही वह भारत लौटकर आया या चीन मे ही मर गया, परन्तु इतना मालूम है कि यही वह आदमी

है जो चीन और जापान के धार्मिक इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड गया है और उसने अध्यात्म-साधना की एक ऐसी गतिशील शक्ति पैदा की है जिसका प्रभाव न केवल सम्पूर्ण पूर्वेशिया की सस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन और जीवन-विधि पर व्यापक रूप से अकित है, बल्कि जो विचारशील साधको के जगत् मे आज दूर-दूर तक प्रसारगामी हो रहा है।

आचार्य बोधिधर्म एक विलक्षण योगी थे। वे एक भारतीय बौद्ध भिक्षु थे जिन्होने सन् ५२० या ५२६ ई० मे चीन मे प्रवेश किया। दक्षिण-भारत के काचीपुरम् के क्षत्रिय(एक अन्य परम्परा के अनुसार ब्राह्मण) राजा सुगन्ध के वे तृतीय पुत्र थे। उनके गुरु का नाम प्रज्ञातर था, जिनके आदेश पर वे चीन गये। बोधिधर्म ने अपनी यात्रा समुद्र द्वारा की और उसमे कुल तीन वर्ष लगे। वे चीन के दक्षिणी समुद्र-तट पर केण्टन बन्दरगाह मे उतरे। बोधिधर्म बौद्ध भिक्षु थे, परन्तु उनकी आकृति मे सौम्यता न थी और न व्यवहार मे शिष्टता। सभ्य-जगत् के मानदण्डो से वे ऊपर थे और उन्हे किसी की चिन्ता न थी। उनके रूप में कुछ विकरालता थी। बढी हुई काली दाढी, तनी हुई भृकुटिया और अन्तर्वेधिनी बड़ी-बड़ी आखे! देखने मे बडे कठोर आदमी मालूम पडते थे। लोगों के पूछने पर उन्होने अपनी आयु १५० वर्ष बताई। भारत से एक वृद्ध भिक्षु आया है, यह सुनकर उत्तरी चीन के तत्कालिक राजा वू-ति ने उनके दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म चीन मे द्वितीय शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग मे ही व्यवस्थित रूप से प्रवेश पा चुका था और वू-ति एक श्रद्धा-वान् बौद्ध उपासक था। उसने बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिए अनेक कार्य किए थे। अनेक विहार बनवाए थे और सस्कृत बौद्ध ग्रथो के चीनी अनुवाद कराए थे। वह अपने पुण्य कार्यों के लिए भिक्षु का अनुमोदन और आशीर्वाद चाहता था। नानकिंग् मे बोधिधर्म की सम्राट् वू-ति से भेट हुई और दोनो मे इस प्रकार सलाप चला—

वू-ति—भन्ते! मैने अनेक विहार बनवाए है, सस्कृत धर्म-ग्रन्थो की प्रतिलिपिया करवाई है और अनेक लोगो को भिक्षु बनने की अनु-

मति दी है। क्या मेरे इन कामो मे कोई पुण्य है ?

बोधिधर्म—बिल्कुल कोई नही।

वू-ति—तब फिर वास्तविक पुण्य क्या है ?

बोधिधर्म—विशुद्ध प्रज्ञा, जो सूक्ष्म, पूर्ण, शून्य और शान्त है। परन्तु इस पुण्य की प्राप्ति इस ससार मे सम्भव नहीं है।

वू-ति—पवित्र धर्म के सिद्धान्तो में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कौन-सा है ?

बोधिधर्म—जहा सब शून्यता है, वहा पवित्र कुछ भी नही कहा जा सकता।

वू-ति—तब फिर मेरे सामने बात कौन कर रहा है ?

बोधिधर्म—मैं नही जानता !

उपर्युक्त सवाद के आधार पर हम बोधिधर्म को रुक्ष स्वभाव का मनुष्य मान सकते है। कुछ-कुछ अशिष्ट भी। सम्राट् के प्रति कुछ आदर दिखाना तो दूर, उन्होने उसके पुण्य कार्यों का भी अनुमोदन नही किया। जिन कार्यों को बौद्ध शास्त्रो मे पुण्यकारी कृत्य बताया गया है, उनको वैसा न बताकर उन्होने सम्राट् के मन मे बुद्धि-भेद पैदा किया, उसे विभ्रमित किया। धार्मिक राजा की भावनाओ का उन्होने कुछ भी आदर नही किया। बौद्ध धर्म के प्रचार मे भी कुछ दिलचस्पी नही ली। परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नही है। बोधिधर्म के उत्तर ऊपर से रुक्ष और अशिष्ट दिखाई देने पर भी सम्राट् के प्रति करुणा से ओत-प्रोत है और बौद्ध धर्म के उच्चतर सत्य की ओर उसे ले जाने वाले है। उन्होने अपने विलक्षण कठोर ढग मे उसे यही बताया कि विहार बनवाना और अन्य पुण्य कार्य करना अधिक महत्वपूर्ण नही है, क्योकि वे अनित्य है, छाया के समान असत्य हैं। इस प्रकार अहभाव से सम्राट् को बचाकर शून्यता के उच्च सत्य का उन्होने उसे उपदेश दिया। उन्होने उससे उस अद्वय सत्य की ओर इशारा किया जो पुण्य और पाप, पवित्र और अपवित्र के द्वन्द्वात्मक विचारो से अतीत है। बोधिधर्म के व्यवहार मे एक असाधारण गौरव का भाव है जिसे कोई इच्छाओ वाला मनुष्य या जिसे अपनी सत्य-प्राप्ति पर गहरा विश्वास न हो,

सम्राट् के सामने प्रकट नही कर सकता था ।

चीनी सम्राट् के साथ उपर्युक्त सवाद के बाद बोधिधर्म ने समझ लिया कि उसे उनसे अधिक लाभ होने वाला नही है और न वह उन्हे समझ ही सकेगा । इसलिए उसके दरबार को छोडकर वे चीन के वेई नामक राज्य मे मे चले गए, जहा उनका अधिकतर समय इस राज्य की राजधानी लो-याड् के 'शाश्वत शान्ति' ('श्वा-लिन्') नामक बौद्ध विहार में बीता । इस विहार का निर्माण पाचवी शताब्दी ईसवी के प्रथम भाग मे किया गया था । बोधिधर्म इस विहार के प्रथम दर्शन करते ही मन्त्र-मुग्ध जैसे हो गए थे । 'नमो' कहते हुए वे हाथ जोडे चार दिन तक इस विहार के सामने खडे रहे । उनका कहना था कि उन्होने कई देशो में भ्रमण किया है, परन्तु इस प्रकार का भव्य और प्रभाव-पूर्ण विहार उन्होने कही नही देखा, बुद्ध के देश (भारत) में भी नही । यही नौ वर्ष तक बोधिधर्म ने ध्यान किया । उनके ध्यान करने की एक बाह्य विशेषता यह थी कि वे दीवार के सामने मुह करके ध्यान करते थे । इसलिए चीन मे वे 'दीवार की ओर ताकने वाले ब्राह्मण' के रूप में प्रसिद्ध हो गए । लो-याड् के जिस मठ में बोधिधर्म ने ध्यान किया, वह आज भी कुछ भग्न अवस्था मे विद्यमान है और ध्यान-सम्प्रदाय के भिक्षुओ का एक छोटा-सा सघ वहा आज भी निवास करता है ।

आचार्य बोधिधर्म ने चीन मे बौद्ध धर्म के ध्यान-सम्प्रदाय की स्थापना की । यह काम उन्होने स्थूल व्यवस्था-बद्ध सघ के रूप मे नही, बल्कि चेतना के आन्तरिक धरातल पर किया । उन्होने लम्बे काल तक मौन रहकर चीनी मन का अध्ययन किया, बडी कठोर और निर्मम परीक्षा लेकर कुछ अधिकारी व्यक्तियो को चुना, अपने मन से उनके मनो को, बिना कुछ बोले हुए, शिक्षित किया, सत्य का सन्देश उनकी चेतना में प्रेषित किया और जब यह काम हो गया तो स्वय अन्तर्हित हो गए । भारतीय ज्ञान अपने देशकालज व्यक्तित्व को खोकर चीनी मानस मे समा गया । वह चीनी शरीर की धमनियो का रक्त बनकर प्रवाहित होने लगा, उसकी अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अग बन

गया। यही काम वाद में जापान में हुआ। आचार्य बोधिधर्म के जीवन का कार्य यही है।

बौद्ध साधना-पद्धति में ध्यान का केन्द्रीय स्थान है। शील (सदाचार) के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति। इतना ही बौद्ध-धर्म है। इस प्रकार शील और प्रज्ञा के बीच मे ध्यान की स्थिति है। जिसने जीवन मे सदाचार का विकास नही किया है, उसका चित्त कभी समाधि को प्राप्त नही कर सकता और जिसे चित्त की समाधि प्राप्त नही है, वह प्रज्ञा की अधिगति से भी दूर है। बिना ध्यान के प्रज्ञा नही है और बिना प्रज्ञा के ध्यान नही है। साधना की यह भूमिका बौद्ध धर्म के सभी रूपो को मान्य है। अत सभी ने शास्ता के द्वारा सिखाई हुई ध्यान-पद्धति का अभ्यास अपनी-अपनी धातु और प्रकृति के अनुसार किया है। 'भिक्षुओ! ध्यान करो। प्रमाद मत करो।' भगवान् की इस उद्‌बोधन-वाणी को सब युगो के बौद्ध साधको ने सुना है। शमथ और विदर्शना की साधना सब बुद्ध-पुत्रो की सामान्य विचरण-भूमि है।

जबकि ध्यान की महिमा बौद्ध धर्म के सभी रूपो में सुरक्षित है, 'ध्यान' नाम से एक विशिष्ट बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना और विकास चीन और जापान की धर्म-साधना की एक विशेषता है, जिसका वहा बीजारोपण करने वाले, जैसा हम अभी कह चुके है, आचार्य बोधिधर्म थे। भारतीय बौद्ध धर्म के लिखित इतिहास मे हमे उसके किसी ध्यान-सम्प्रदाय का उल्लेख नही मिलता। न तो अशोक के काल तक उत्पन्न अष्टादश निकायो मे उसका कही उल्लेख है और न उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो मे उसके अस्तित्व के कही चिन्ह है, यद्यपि योगाचार (जिसका अर्थ ही योग का आचार या अभ्यास है) मत उसी की तरह योग (ध्यान) की साधना पर अवलम्बित था। यद्यपि पृथक् ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण हमे नही मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के काल से ही भारत मे अवश्य चली आ रही थी, ऐसा हम चीनी परम्परा के आधार पर कह सकते है। आचार्य बोधिधर्म ने चीन मे बताया कि ध्यान के गूढ रहस्यो का उपदेश भगवान्

बुद्ध ने अपने शिष्य महाकाश्यप को दिया था, जिन्होंने उसे आनन्द को बताया। इस प्रकार ध्यान-सम्प्रदाय के आदि आचार्य महाकाश्यप थे और दूसरे आचार्य आनन्द। उसके बाद इस परम्परा मे २६ आचार्य और हुए, जिनमे अन्तिम बोधिधर्म थे। इस प्रकार बोधिधर्म भारतीय ध्यान-सम्प्रदाय के अट्ठाईसवे और अन्तिम आचार्य थे। चीनी (और जापानी) ध्यान-सम्प्रदाय के वे प्रथम धर्मनायक हुए। उनके बाद चीन मे पाच और धर्मनायक उनके शिष्यानुक्रम मे हुए। उसके बाद ध्यान-सम्प्रदाय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त हुआ और स्वय बोधिधर्म द्वारा दिये गये आदेश के अनुसार धर्मनायको की प्रथा समाप्त कर दी गई।

बोधिधर्म के शिष्य और उनके प्रथम उत्तराधिकारी का नाम शैन्-क्वाग् था, जिसे अपना शिष्य बनाने के बाद बोधिधर्म ने 'हुइ-के' बौद्ध नाम दिया, जिसका अर्थ है "ज्ञानी-अधिकारवान्।" शैन्-क्वाग् कनफूसी धर्म को मानने वाला एक महापण्डित था। योगी के रूप मे बोधिधर्म की ख्याति सुनकर वह उनसे मिलने के लिए उस विहार में आया, जहा बोधिधर्म ध्यान करते थे। सात दिन तक वह दरवाजे पर खडा रहा, परन्तु बोधिधर्म ने उसे मिलने की अनुमति नही दी। जाडे का मौसम था और बरफ पड रही थी। परन्तु शैन्-क्वाग् भी सकल्प-वान् पुरुष था। कहा जाता है कि उसने अपनी बाई बाह काटकर बोधिधर्म के पास यह दिखाने के लिए भिजवा दी कि वह उनका शिष्यत्व पाने के लिए अपने शरीर का भी बलिदान कर सकता है। शैन्-क्वाग् को भीतर जाने की अनुमति मिली। गुरु ने उसका समाधान किया, शब्दो से नही, मन के द्वारा मन से। शैन्-क्वाग् ने बिलखते हुए कहा—"भन्ते! मुझे मन की शान्ति नही है। मेरे मन को आप कृपा कर शान्त करे।" बोधिधर्म ने उसे कठोरतापूर्वक उत्तर दिया, "अपने मन को निकाल कर यहा मुझे दे। मै उसे शान्त करूगा।" शैन्-क्वाग् ने और भी रोते हुए कहा, "मै अपने मन को कैसे निकाल कर आपको दे सकता हू?" इस पर कुछ नरम होते हुए और उस पर अनुकम्पा करते हुए बोधिधर्म ने उससे कहा, "तो मै तेरे मन को शान्त कर

चुका हू ।" तत्काल शैन्-क्वाग् को शान्ति अनुभव हुई । उसके सारे सन्देह दूर हो गये । बौद्धिक सघर्ष सदा के लिए मिट गए । बोधिधर्म ने उसे अपना शिष्य बनाया और, जैसा पहले कहा जा चुका है, उसे 'हुइ-के' नाम दिया । हुइ-के ध्यान-सम्प्रदाय के चीन मे द्वितीय धर्म-नायक हुए । बोधिधर्म के पास जो कुछ था, वह सब उन्होने हुइ-के को दे दिया । अब सब काम चीनियो को चीनियो के लिए करना था । चीनी परम्परा मे सुरक्षित लेखो के अनुसार बोधिधर्म ने अपने शिष्य हुइ-के से कहा था, "मै भारत से इस पूर्वी देश मे आया हू और मैने देखा है कि इस चीन देश मे मनुष्य महायान बौद्ध धर्म की ओर अधिक प्रवण है । मैने दूर तक समुद्री यात्रा की है और मै रेगिस्तानो मे भटका हू, केवल इस उद्देश्य के लिए कि मुझे कही अधिकारी व्यक्ति मिलें, जिन्हे मै अपना अनुभव प्रेषित कर सकू । जब तक मुझे इसके उपयुक्त अवसर न मिले, मै मौन रहा, जैसे कि मै बोलने मे असमर्थ गूगा होऊ । अब मुझे तुम मिल गए हो । मै तुम्हे यह दे रहा हू और मेरी इच्छा अन्तत पूरी हो चुकी है ।"

चीन मे ध्यान-सम्प्रदाय के छठे और अन्तिम धर्म-नायक हुइ-नैग् (६३८-७१३) नामक अनुभवी महात्मा थे । उन्होने ध्यान-सम्प्रदाय को उसका विशिष्ट चीनी स्वरूप प्रदान किया । उन्होने अपने पीछे एक ग्रन्थ भी छोडा है जो उनके प्रवचनो का सग्रह है, जिसे उनके मुख से सुनकर उनके एक शिष्य ने लिखा था । इस ग्रन्थ का पूरा नाम है "छठे धर्मनायक द्वारा भाषित धर्म-रत्न-सूत्र" । सक्षेप मे इसे "छठे धर्मनायक का सूत्र" भी कहते है । चूकि इस ग्रन्थ मे निहित उपदेश भिक्षुओ के उपसम्पदा-सस्कार के लिए निर्मित एक मच पर बैठकर दिए गये थे, इसलिए इसका एक नाम 'धर्म-निधि-मच-सूत्र' या सक्षेप मे 'मच-सूत्र' भी है । 'सूत्र' शब्द का प्रयोग साधारणत' बुद्ध या बोधिसत्त्वो के द्वारा दिए गए उपदेश के लिए होता है । अत. हुइ-नैग् द्वारा भाषित इस प्रवचन को 'सूत्र' नाम देकर चीनी परम्परा मे उसको असाधारण सम्मान दिया गया है । चीनी बौद्ध महात्माओ मे यह सम्मान केवल हुइ-नैग् को ही मिल सका है । 'मच-सूत्र' या 'छठे धर्मनायक का सूत्र' विश्व के साधनात्मक साहित्य

की एक अमर रचना है। इस 'सूत्र' के आरम्भ में हुइ-नैग् ने यह बताया है कि ध्यान-बौद्धधर्म मे उन्हे श्रद्धा किस प्रकार उत्पन्न हुई। उन्होने हमें बताया है वह कि एक अपढ लकडहारे थे। बाल्यावस्था मे ही उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह लकडी बेचकर अपना और अपनी वृद्धा माता का गुजारा करते थे। एक दिन जब वह किसी घर मे लकडी बेचकर लौट रहे थे तो बाहर सडक पर उन्होने किसी को वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता सूत्र से कुछ अश पढते सुना। अचानक उनकी अन्तर्दृष्टि जाग पडी। उन्होने मालूम किया कि जो आदमी सूत्र से कुछ अश पढ रहा था, वह किसी सघाराम से आया था, जहा 'ध्यान'-बौद्धधर्म के पाचवे धर्म-नायक हुग्-जेन् पाच सौ भिक्षुओ के साथ रहते थे। हुइ-नैग् वहा गये और हुग्-जेन् के शिष्य हो गए। नवागत शिष्य को चावल कूटने का काम दिया गया। आठ महीने तक उसने यह काम किया। हुग्-जेन् ने एक दिन अपने शिष्यो को सूचित किया कि वह अपना उत्तराधिकारी भिक्षु निश्चित करना चाहते है और जो भिक्षु ध्यान-बौद्धधर्म के मर्म को प्रकट करने वाली सर्वोत्तम गाथा लिखेगा उसे वह अपना उत्तराधिकारी चुन लेगे। हुग्-जेन् का एक अत्यन्त पण्डित शिष्य शेन्-सियु नामक भिक्षु था। उसने एक गाथा लिखी—

"शरीर बोधिवृक्ष के समान है,
और मन स्वच्छ दर्पण के समान;
हर क्षण हम उन्हें सावधानी से साफ करते है,
ताकि उन पर धूल न जम जाय।"

गुरु ने इस गाथा का अनुमोदन किया, परन्तु सर्वोत्तम गाथा उन्होने हुइ-नैग् द्वारा रचित मानी, जो इस प्रकार थी—

"नहीं है बोधि-वृक्ष के समान शरीर,
और न कहीं चमक रहा है स्वच्छ दर्पण,
तत्त्वत सब कुछ शून्य है,
धूल जमेगी कहां ?"

हुग्-जेन् ने हुइ-नैग् को अपना चीवर और भिक्षापात्र दिया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। जैसा हम पहले कह चुके है, हुइ-नैग्

चीन मे ध्यान-बौद्धधर्म के छठे और अतिम धर्म-नायक थे। उन्होने अपना उत्तराधिकारी कोई धर्म-नायक नही बनाया और आगे के लिए भी आदेश दिया कि कोई धर्म-नायक न बनाया जाय। अपने शिष्यो से उन्होने कहा, "तुम सब संशयो से रहित हो। इसलिए तुम सब इस सम्प्रदाय के उच्च उद्देश्यो को कार्यान्वित करने मे समर्थ हो।" बोधि-धर्म के शब्दो को हुइ-नैंग् ने अपने शिष्यो को सुनाते हुए कहा, "चीन मे मेरे आने का उद्देश्य उन सब लोगो को मुक्ति का सन्देश प्रेषित करना था, जो मोह मे पडे हुए थे। पाच पखुडियो मे यह फूल पूरा होगा। उसके बाद स्वाभाविक रूप से फल परिपक्व होगा।" बोधिधर्म की भविष्यवाणी सर्वांश मे सत्य निकली। बौद्ध ध्यानी सन्तो के ज्ञान का चरम विकास जिन शताब्दियो—(सातवी मे लेकर चौदहवी) के बीच हुआ, वही चीनी संस्कृति की स्वर्ण-युग मानी जाती है।

ध्यान के जिस सन्देश को बोधिधर्म ने शैन्-क्वाग् को दिया और जो तब से अब तक बराबर चीन, जापान और कोरिया मे विकसित होता चला आ रहा है, क्या है ? यह सन्देश है स्वानुभव से बोधि को अपने जीवन के अन्दर उतारने का योग। लगभग सातवी शताब्दी ईसवी के एक अज्ञात ध्यानी सन्त ने उसे इन शब्दो मे व्यक्त किया है.

> "शास्त्रों से बाहर एक विशेष सम्प्रेषण,
> शब्दों और वर्णों पर कोई निर्भरता नहीं;
> मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत,
> अपने ही स्वभाव के अन्दर देखना और बुद्धत्व प्राप्त कर लेना।"

परन्तु बोधिधर्म ने इसकी ओर केवल इगित किया, उगली से उसकी ओर इशारा भर किया, उसके मार्ग का विकास चीन और जापान के साधको ने स्वय अपने लिए किया है। 'ध्यान' शब्द का चीनी रूपान्तर 'छान्' है और जापानी 'जेन्'। अत क्रमश 'छान्-सुग्' और 'ज़ेन्-शू' के नाम से बौद्ध धर्म का यह सम्प्रदाय चीन और जापान में प्रसिद्ध है। जापान मे बौद्ध धर्म का प्रवेश वैसे छठी शताब्दी मे ही हो गया था, परन्तु ध्यान-निकाय की विधिवत् स्थापना वहा बारहवी शताब्दी मे हुई,

जब से वह वहा के निवासियो की नस-नस में समा चुका है। चीनी मस्तिष्क भारतीय मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक है, अत वहा दैनिक जीवन की क्रियाओ को करते हुए अन्तर्दृष्टि के विकास पर अधिक जोर दिया गया है। परम्परागत मान्यताओ के बन्धन से मानव-मन को मुक्त करने का ध्यानवादी आचार्य भरसक प्रयत्न करते है। धार्मिक ग्रथो मे उनकी अधिक आस्था नही है, क्योकि वे स्वानुभव चाहते है, जो शास्त्र और सूत्र नही दे सकते। फिर भी ध्यान बौद्ध-धर्म के अनुयायी लकावतार-सूत्र को अपना आधारभूत धार्मिक ग्रथ मानते है, वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता-सूत्र का भी पारायण करते है और प्रज्ञापारमिता-हृदय-सूत्र का पाठ तो ध्यान-सम्प्रदाय के प्रत्येक मठ मे प्रतिदिन प्रात किया जाता है। चीनी मन की स्वाभाविक हास्य-भावना की अभिव्यक्ति भी ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक बातो में हुई है और इस सम्प्रदाय के आचार्यो और साधको के जो चित्र खीचे गए है, वे प्राय. व्यग्य-चित्र जैसे है। हास्य की भावना को जितना अधिक महत्त्व ध्यान-सम्प्रदाय की साधना मे मिला है, उतना शायद ही अन्य किसी धर्म-साधना मे मिला हो। ध्यानी सन्त बडे मौजी स्वभाव के होते है। वस्तु-गत जगत् की वे अधिक परवाह नही करते। जीवन की हर वस्तु उनके लिए गम्भीर है और साथ ही एक बडा मजाक भी। वे गरीबी मे आनन्द लेते है और अपने प्रति पूज्य बुद्धि न आने देने के लिए वे अपने को व्यग्य और हास्य के पात्र के रूप में चित्रित करते है। ध्यानी गुरुओ की शिक्षा-पद्धति मे शिष्यो को चाटे लगाने की एक प्रथा-सी है। इससे वे अतर्दृष्टि को जगाने का प्रयत्न करते है। इसी उद्देश्य के लिए वे डडे से भी प्रहार करते है, शिष्यो को धक्का भी देते है और गालिया भी देते है। सहज अनुभूति पर ध्यान-सम्प्रदाय मे जोर है, अत' उसके साधक सिद्धान्तवाद मे अधिक विश्वास नही करते। सत्य को वे विचार के द्वारा गम्य नही मानते। अत शब्दो को वे सत्य की अभिव्यक्ति का अत्यन्त निर्बल साधन मानते है। भाषा की इसी कठिनाई के कारण वे परम सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्राय उलटबासियो या उल्टी भापा का प्रयोग करते है, जैसे हमारे देश मे उसी उद्देश्य के लिए कबीर ने किया

था। "नैया बिच नदिया डूबति जाइ।" कबीर साहब ने कहा था। उनसे करीब एक हजार वर्ष पूर्व के ध्यानी सन्त फुदायशी (४९७-५६९ ई०) की एक प्रसिद्ध गाथा है :

मैं खाली हाथ चला जा रहा हूं, देखो
मेरे हाथ में एक फावडा है।
मैं पैदल चला जा रहा हूं, फिर भी
एक बैल की पीठ पर मैं सवार हूं।
जब मैं पुल से पार हो रहा हूं,
तो देखो, पानी बहता नहीं,
पर पुल बहा जा रहा है।

इस प्रकार की उलटवासिया चीन और जापान के ध्यान-बौद्धधर्म के साहित्य मे भरी पडी है। "धूल का बादल समुद्र से उठ रहा है", "जब दोनो हाथों से ताली बजाते है तो शब्द होता है, एक हाथ की ताली का शब्द सुनो", "यदि तुमने एक हाथ का शब्द सुना है, तो क्या उसे मुझे सुना सकते हो?" लगता है कि 'एक हाथ का शब्द' जिसे ध्यानी साधक सुनना चाहता है, अद्वैत के अनुभव का आनन्द ही है, जिसके बारे मे ध्यान-योगी अधिकतर कहते सुने जाते हैं। हममे से बहुतो को यह भी लोभ हो सकता है कि एक हाथ की ताली के शब्द को हम अनहद नाद समझे, परन्तु इससे हमे बचना चाहिए। हिन्दी-साहित्य मे उद्घाटित हठ-योग की, छह चक्रो और कुण्डलिनी-योग वाली, साधना से ध्यान-बौद्ध धर्म का कोई सम्बन्ध नही है। इसके लिए हमे बौद्ध धर्म के एक अन्य रहस्यवादी सम्प्रदाय मन्त्र-यान की ओर जाना पडेगा, जिसका भी चीन और जापान मे प्रचार है। जहा तक ध्यान-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, उल्टी भाषा का प्रयोग केवल यह दिखाने के लिए किया गया है कि साधारण मानवीय तर्क मनुष्य की गम्भीरतम आध्यात्मिक आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता और उसके लिए विरोधात्मक भाषा आवश्यक हो जाती है। मनुष्य को उसके पालित मिथ्या विश्वासो से चौकाने के लिए, विचार के लिए उसे असाधारण प्रेरणा देने के लिए, इस प्रकार के विरोधात्मक कथनो का

प्रयोग ध्यानी सन्तो ने किया है। परम सत्य को वे अनिर्वचनीय मानते है। 'अस्ति' और 'नास्तिकी' कोटियो मे उसे नही बाधा जा सकता। वह उनसे अतीत है। एक ध्यानी सत का कहना है, "जब मै कहता हूँ 'यह नही है' तो इसका अर्थ निषेध नहीं है। इसी प्रकार जब मै कहता हू कि 'यह है' तो इसका अर्थ 'हा' कहना नही है। पूर्व की ओर मुडो और वही पश्चिमी देश को देखो। दक्षिण की ओर मुह करो और वही तुम्हे उत्तरी ध्रुव दिखाया जा रहा है।" ध्यान-बौद्धधर्म के एक गुरु ने अपने शिष्यो को एक घडा दिखाकर कहा कि 'इसे घड़ा कहकर मत पुकारो, परन्तु मुझे बताओ कि यह क्या है ?" एक शिष्य ने उत्तर दिया, "यह लकडी का टुकडा नही कहा जा सकता।" यह उत्तर गुरु को नही जंचा। दूसरे शिष्य ने हल्के से धक्का देकर घडे को नीचे गिरा दिया और चुपचाप चलता बना। यही उत्तर ध्यान-बौद्धधर्म की भावना के अनुसार ठीक था। वस्तु की अनुभूति उसकी दार्शनिक व्याख्या से बडी वस्तु है। एक अन्य गुरु ने अपने शिष्यो को एक लकडी दिखाई और कहा, "यदि तुम इसे लकडी कहो तो तुम 'अस्ति' कहते हो, यदि तुम इसे लकडी न कहो तो 'नास्ति' कहते हो। मत 'अस्ति' कहो, मत 'नास्ति' कहो। अब बताओ यह क्या है ? बोलो, बोलो !" शिष्यो में निस्तब्धता थी। वस्तुएं नि स्वभाव और अव्यपदेश्य है। बौद्धिक विश्लेषण पर जोर न देकर हमे अपरोक्षानुभूति प्राप्त करनी चाहिए। नवी शताब्दी के सिग्-पिग् नामक एक विद्यार्थी ने अपने गुरु सुई-वी से पूछा "बौद्ध धर्म का आधारभूत सिद्धान्त क्या है ?" गुरु ने कहा, "ठहर ! जब आसपास कोई नही होगा तब मै तुझे अकेले में बताऊगा।" कुछ देर बाद शिष्य ने गुरु को फिर याद दिलाई, "भन्ते ! अब यहा कोई नही है। मुझे बताइये।" अपने आसन से उठकर गुरु शिष्य को बाँसो के वन मे ले गया और कुछ न बोला। जब शिष्य ने उत्तर के लिए आग्रह किया तो गुरु ने उसके कान मे कहा, "देख, ये बास कितने लम्बे है। और देख, वहा वे कितने छोटे है।" इस प्रकार पहेलियो मे उपदेश देने की, ध्यान-बौद्धधर्म के गुरुओ की एक प्रथा-सी रही है। इसी सकेतात्मक शैली का एक और उदाहरण लीजिये। एक

शिष्य अपने गुरु से विदाई लेने गया। गुरु ने पूछा, "कहाँ जाना चाहते हो?" शिष्य ने उत्तर दिया, "मैं बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए आपके पास आकर भिक्षु बना हूँ, परन्तु आपने मुझे कभी अपने उपदेश से लाभान्वित नहीं किया। अब मैं आपको छोड़कर किसी और जगह अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए जाना चाहता हूं।" गुरु ने उत्तर दिया, "यदि बौद्ध धर्म को सिखाने की बात है तो मैं कुछ अल्प तुम्हें सिखा सकता हूं।" जब शिष्य ने उसे बताने के लिए कहा, तो गुरु ने अपने चोगे में से एक बाल निकाला और उसे फूंक मार कर उड़ा दिया। शिष्य को तत्काल अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गई। एक जापानी ध्यान-योगी से जब उसके शिष्य ने पूछा कि "बुद्ध क्या है?" तो इसका पहेली में उत्तर देते हुए गुरु ने कहा था, "दुलहिन गधे पर बैठी हुई है और उसकी सास लगाम पकड़े है।" छठी शताब्दी ईसवी की बात है कि चीनी सम्राट् वू ने ध्यान-सम्प्रदाय के गुरु फ-सि शिह् से किसी बौद्ध सूत्र पर प्रवचन करने की प्रार्थना की। गुरु महाराज गम्भीरतापूर्वक आसन पर विराजमान हो गए, परन्तु एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया। सम्राट् ने कहा, "भन्ते! मैंने आपसे प्रवचन करने की प्रार्थना की थी, आप बोलना आरम्भ क्यों नहीं करते?" इस पर पास ही खड़े एक ध्यानी शिष्य ने सम्राट् से कहा, 'गुरु महाराज उपदेश समाप्त कर चुके है।" इसके सम्बन्ध में एक ध्यानी आचार्य ने टिप्पणी करते हुए कहा है, "कितना वक्तृतापूर्ण था वह प्रवचन!"

ध्यान-सम्प्रदाय मे शरीर और मन की एक लम्बी साधना का विधान है, जिसे उपयुक्त गुरु के पास सीखना होता है। शरीर और मन का समाधान प्राप्त करने के लिए वर्षों लग सकते है और फिर भी वह दृष्टि प्राप्त न हो जिसे ध्यान-सम्प्रदाय देना चाहता है। फिर भी ध्यान-बौद्धधर्म की मान्यता है कि ज्ञान जब होता है तो एक पल भर मे हो सकता है। कबीर साहब ने कहा था, "ढूंढा होइ तो मिलिहै बन्दे पल भर की तलास में"। ध्यान-योगियो का अनुभव है कि ढूंढता-ढूंढता थका हुआ मन कभी-कभी उसे 'पल भर की तलास मे' पा जाता है। आत्मानुभूति द्वारा सत्य मे इस आकस्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने

को जापानी भाषा मे 'सटोरी' कह कर पुकारा जाता है।

ध्यान-सम्प्रदाय यद्यपि महायान के तथता या शून्यता के तत्त्वज्ञान पर आधारित है, परन्तु वह निश्चयत: अद्वैत की ओर भी प्रगमन करता है, जो प्रज्ञापारमिताओ के दर्शन में आरम्भ से ही अन्तर्हित था। जब एक शिष्य ने गुरु से पूछा, "बुद्ध क्या है ?" तो गुरु ने कहा, "यदि मैं तुम्हे बताऊ तो क्या तुम विश्वास करोगे ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "यदि आप मुझे सत्य बताएगे तो मै कैसे नही विश्वास करूगा !" गुरु ने उसे अलग ले जाकर कहा "तुम वह हो।" "तत्त्वमसि" का पूर्ण शाब्दिक अनुवाद, जो अनुभूति की समानता से उपनिषद् के ऋषि के समान चीनी साधक को स्वत. प्राप्त हो गया है। केवल शब्दो के द्वारा सत्य को समझने के प्रयत्न का ध्यान-सम्प्रदाय के साधक विरोध करते हैं। वे मन को अन्तर्मुखी करने पर जोर देते है और इसी से सत्य का दर्शन सम्भव मानते है। सत्य-प्राप्ति के बाद उसकी मौखिक घोषणा वे आवश्यक नही मानते। फू नामक एक जापानी बौद्ध भिक्षु निर्वाण-सूत्र पर प्रवचन करता हुआ धर्म-काय की व्याख्या कर रहा था। उसका शास्त्रीय ज्ञान पूर्ण और निर्दोष था, परन्तु उसे स्वय अनुभव नही था। उसके प्रवचन को सुनकर यग्-चाऊ नामक एक ध्यानी सन्त को हँसी आ गई। विद्वान् भिक्षु को सन्देह हुआ कि उसने कोई गलत व्याख्या की है, इसलिए उसे समझने के लिए वह हँसने वाले ध्यानी सन्त के पास गया। ध्यानी सन्त ने कहा, "तुम्हारी व्याख्या में कोई दोष नही था। मै यह देखकर हँसा कि जिस वस्तु का तुम विवेचन कर रहे हो, उसका अपरोक्ष, सीधा ज्ञान तुम्हे नही है।" "तो क्या तुम मुझे बता सकते हो कि वह वस्तु क्या है ?" "क्या तुम मुझ पर विश्वास करोगे ?" "क्यो नही ?" "अच्छा तुम शास्त्र के प्रवचन और अध्ययन को कुछ समय के लिए छोडो। दस दिन के लिए अपने कमरे मे बन्द हो जाओ। गर्दन सीधी कर शान्त होकर बैठो और अपने विचारो को एकाग्र करो। अच्छे-बुरे के द्वन्द्वात्मक तर्क को छोडकर अपने आन्तरिक ससार को देखो।" भिक्षु इस आदेश के अनुसार रात-भर ध्यान मे बैठा रहा। प्रात चार बजे के करीब उसे बासुरी का सा शब्द सुनाई

दिया और उसके चित्त ने समाधि-सुख का प्रथम स्पर्श किया। प्रातः-काल उठकर उसने गुरु का दरवाजा खटखटाया। गुरु ने उसे फटकारते हुए कहा, "मै तो चाहता था कि तू सत्य में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर उसका रक्षक और प्रेषक बनेगा। तू शराब पीकर सडक पर क्यों खर्राटे ले रहा है ?" अनुभव ही ध्यान-बौद्ध धर्म का आदि है और वही उसका अवसान। और उसे जीवन मे ही खोजना है, जीवन से भागकर नही। चुग्-सिन् नामक चीनी शिष्य ने अपने गुरु ताओ-वू की बडी सेवा की। एक दिन शिष्य ने गुरु के पास आकर कहा, "जिस दिन से मैं यहां आया हूं, आपने मुझे धर्म के सार के बारे में कभी नहीं बताया।" गुरु ने उत्तर दिया, "जब से तुम यहां आये हो, मैं कभी तुम्हें धर्म का सार बताये बिना नहीं रहा हूं।" "आपने मुझे कब धर्म का सार बताया है ?" शिष्य ने पूछा। गुरु ने उत्तर दिया, "जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आये हो, मैं कभी उसे बिना ग्रहण किए नहीं रहा हूं। जब तुमने हाथ जोडकर आदरपूर्वक मुझे प्रणाम किया है, तो मैं कभी अपना सिर झुकाए बिना नहीं रहा हूं। बताओ, मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नहीं दिया है ?" शिष्य काफी देर तक चुप-चाप खडा रहा। फिर गुरु ने कहा, "यदि तुम देखना चाहते हो तो तुम्हें सीधे और एक क्षण में ही देख लेना होगा। यदि तुम सत्य के साक्षात्कार के मानसिक विश्लेषण पर आग्रह करोगे तो तुम लक्ष्य से दूर जा पडोगे।" चुग्-सिन् ने प्रकाश की एक झलक मे अपने गुरु के मन्तव्य को समझ लिया।

ध्यान-सम्प्रदाय चीन और जापान मे आज भी एक जीवित साधना-पद्धति है। उनके मठ और संघाराम हैं, जहां भव्य और कलापूर्ण ध्यान-मदिर बने हुए हैं। प्रत्येक ध्यान-मदिर के बीच मे शाक्यमुनि बुद्ध की मूर्ति होती है जिसके चारो ओर बैठकर श्रद्धालु नर-नारी, भिक्षु और गृहस्थ, ध्यान (जापानी ज-जेन् और चीनी चान) करते हैं। चीन और जापान की संस्कृतियो पर ध्यान-बौद्धधर्म का व्यापक प्रभाव है। भारतीय अद्वैतवाद और भक्ति-आन्दोलन, विशेषतः रहस्यवादी सन्त-मत से, ध्यान-सम्प्रदाय की अनेक समानताएं हैं।

द्वैतभाव का निरसन करते-करते ध्यानी सन्त थकते नही। नाथ-पथ और निर्गुण-पंथ की वाणियो के, विशेषत: मन के साधना-सम्बन्धी, कई ऐसे प्रसग है जिनकी व्याख्या हम ध्यानी सन्तो की वाणियो से अच्छी प्रकार कर सकते है और कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक और तात्त्विक निष्कर्ष निकाल सकते है। ध्यानवादी गुरु-शिष्यो के प्रश्नोत्तरमय सवाद (मोण्डो) सन्त-वाणी के समान हृदय को सीधे स्पर्श करने वाले है। वस्तुत: ध्यान-सम्प्रदाय भारतीय धर्म-साधना का पूर्वेशिया के अनुरूप मनोवैज्ञानिक परिणाम ही है। उसके अध्ययन से हम यह भली प्रकार समझ सकते है कि मूलत हमारे देश मे उत्पन्न यह साधना किस प्रकार चीनी और जापानी मन के द्वारा ग्रहण की गई और अपनी सुविधानुसार उसमे क्या-क्या परिवर्तन कर उसने उसे आत्मसात् कर लिया। चीन और जापान के पास जो सर्वोत्तम है, उसके निर्माण में ध्यान-सम्प्रदाय ने योग दिया है। अनेक विचार और कल्पनाए उसने वहा के साहित्यकारो, विचारको और कलाकारो को दी है। वह वहा के पण्डितो और भिक्षुओ का ही धर्म नही है, किसानो, मजदूरो और सिपाहियो का भी धर्म है। अनेक सस्कार, जैसे चाय-सस्कार आदि, उसके प्रभाव के कारण चीनी और जापानी जीवन के अग वन गए है। आधुनिक जीवन के भारो से व्यस्त, आर्थिक संघर्षो और राज-नीतिक क्षुद्रताओ से त्रस्त मनुष्य ध्यान-संप्रदाय के प्राणवान् साहित्य से नई शक्ति और स्वस्थता प्राप्त कर सकता है। विशेषत हमारे देश मे एशिया की सास्कृतिक एकता के साथ-साथ, सन्त मत जैसे सरल, विलक्षण और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य का अध्ययन और मनन हमारे आध्यात्मिक अनुभव की समृद्धि और गवाही के लिए अत्यन्त आवश्यक है।